विवेकसार

अघोराचार्य बाबा कीनाराम विरचित

अनुवाद एवं व्याख्या जिष्णु शंकर

The *Viveksār*

Composed by Aghoracharya Kinaram

Translation and Commentary by Jishnu Shankar

Maestri, testi e fonti d'Oriente 5
DOI 10.30687/978-88-6969-892-7/006

1 गुरुपद स्तवन

|| दोहा ||

राम नाम उर राखि कै गुरुपद रज उर धारि ।
विवेक सार गुरु शिष वचन कहों सुसुमति विचारि ॥1॥

हृदय में ईश्वर के नाम और गुरु की चरण-धूलि को सँजोकर, अपनी सद्बुद्धि से विचार कर गुरु-शिष्य संवाद को विवेक-सार नाम से कह रहा हूँ ॥ **1** ॥

राम के नाम के साथ ईश्वर का स्मरण कर, और अपने सद्गुरु की स्मृति को उनके चरणों की धूलि के रूप में हृदय में धारण कर बाबा कीनाराम विवेकसार का आरम्भ करते हैं। आध्यात्मिक विषय पर हुए गुरु और शिष्य के बीच के वार्तालाप के रूपक के माध्यम से वे वास्तविक ज्ञान का निचोड़ या, अन्य शब्दों में जिसे वे विवेक का सार कहते हैं, अपनी गूढ़ समझ के अनुसार अभिव्यक्त कर रहे हैं। भारतीय, और विशेषकर हिंदू परिप्रेक्ष्य में, इस प्रकार गुरु के चरणों का स्मरण करके ज्ञान के इस विस्तार की प्रक्रिया का शुभारम्भ करना एक मान्य परम्परा है। विशेषकर उन परम्पराओं में जो गुरु-शिष्य के व्यक्तिगत सम्बंधों पर आधारित होते हैं, ऐसा करना न केवल गुरु को आदर देना माना जाता है, साथ ही यह भी अपेक्षा रहती है कि गुरु लेखक की लेखनी को शक्ति देकर कार्य को उचित रीति से सम्पन्न करने में सहायता करेंगे।

ईश्वर का स्मरण करने के लिए बाबा कीनाराम ने राम का नाम लिया है। हिंदू संतों की परम्परा में राम का नाम दो प्रकार से लिया जाता है - एक तो ईश्वर की अमूर्त या निर्गुण परिकल्पना के लिये, या फिर सगुण या मूर्त रूप में, जैसे कि राजा दशरथ के पुत्र, विष्णु के अवतार, प्रभु रामचंद्र की छवि में। इस दोहे को बाबा कीनाराम ने इस प्रकार से रचा है कि उनके इस राम के स्मरण को हम अपनी अभिरुचि के अनुसार निर्गुण अथवा सगुण, किसी भी रूप में ले सकते हैं।

1 Gurupada Stavana: Obeisance at the feet of the Guru

|| Dohā ||

Rāma nāma ura rākhi kai gurupada raja ura dhāri;
Viveka sāra guru-śiṣa vacana kahõ susumati vicāri. **1**.

Placing Ram's name in my heart,
and the holy dust from guru's feet;
this guru-disciple discourse on the essence of discernment,
I relate with my own good judgment. **1**.

With God's name and the reverence for his Guru's feet firmly established in his heart, Baba Kinaram begins to tell us the essence of the discourse that he has had with his own guru; a discourse of which he has a deep and perceptive understanding. The guru-disciple conversation here is a metaphor, a way of communicating tenets of a profound way of wisdom. The way Baba Kinaram begins his narrative, with a remembrance of his guru's holy feet, is a very common way of commencing such a discourse on the spiritual nature of things and how to understand them, in the Hindu traditions. This is especially important in all traditions based on a guru-disciple relationship.

For God, Baba Kinaram uses the name Ram. Ram's name is used by the saint traditions in India in two ways: one, as a catch-all term for a formless (*nirguṇa*) God; and two, as the name of prince Rama, the son of king Dasharath of Ayodhya. As the prince of Ayodhya Ram is widely understood to be an incarnation of God Vishnu. In the couplet above, Baba Kinaram appears to leave the decision up to us as to how we interpret the name of Ram mentioned in the first line. It can refer both, to a formless God, or it could refer to prince Rama, the incarnation of Vishnu, as a God with an anthropomorphic form.

व्यापक व्याप्य प्रकाश महँ चिदानंद सुखधाम ।
बहिरंतर जहँ तहँ प्रगट वंदौ आत्माराम ॥2॥

उस ईश्वरीय प्रकाश का अनंत आनंद अपनी आत्मा के ही रूप में अंदर-बाहर सर्वत्र व्याप्त है। उसे मैं प्रणाम करता हूँ ॥ **2** ॥

विवेकसार के आरम्भ में वे परमात्मा और आत्मा के बीच की अभिन्नता इंगित करते हैं। वे कहते हैं कि अनंत आनंद की प्रतिमूर्ति, वह सुख का अपरिमित स्रोत, संसार की इस पूरी संरचना में व्याप्त है। यह वह प्रकाश है जो सृष्टि के कण-कण को आलोकित कर रहा है। उस प्रकाश की उपस्थिति को यत्र-तत्र-सर्वत्र देखा जा सकता है क्योंकि वह हर जीव में आत्मा के रूप में प्रकट है। चूँकि वह आत्मा उस परमात्मा का ही प्रतिरूप है, और स्वयं उनमें भी व्याप्त है, वे उसकी वंदना करते हैं।

Vyāpaka vyāpya prakāśa mahã cidānanda sukhadhāma;
bahirantara jahã tahã pragaṭa vandau ātmārāma. **2.**

Eternal bliss is always present,
in the all-pervading omnipresent light;
out and inside, present everywhere,
I bow to that divine Self. **2**.

Kinaram emphasizes that it is his own Soul or Self, with the capital 'S', which is the divine light that exists inside his body and outside in the world as well. It is, in fact, the divine light which emanates from the supreme Godhead, that eternal fount of joy, which permeates every particle of this world inseparably, and constitutes the 'Self' that Kinaram has now discovered within himself.

राम नाम सतसंग सम साधन और न कोइ ।
श्रुति सिद्धांत विचार यह जानै बिरला कोइ ॥3॥

आध्यात्मिक ग्रंथ एकमत हैं कि राम-नाम के सत्संग बिना उनका ज्ञान प्राप्त करने का कोई और मार्ग नहीं है। किंतु यह बात कोई-कोई ही जान पाते हैं ॥ **3** ॥

इस ज्ञान की खोज में निकलने वालों से उनका आग्रह है कि वे राम-नाम या ईश्वर का स्मरण करें, और इसके साथ ही वे सत्संग का आलंबन लें, क्योंकि इन दो प्रयासों के अतिरिक्त इस पथ पर सफलता पाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। उनका कहना है कि यही बात सभी श्रुति-स्मृति शास्त्रों में भी पाई जाती है। किंतु इतना सहज होते हुए भी इस ज्ञान को प्राप्त कर पाना सरल नहीं, क्योंकि हजारों या लाखों में से किसी-किसी को ही यह सफलता हस्तामलकवत् प्राप्त होती है।

जिस विधि से बाबा कीनाराम ने "श्रुति-सिद्धांत", इन दो शब्दों का प्रयोग किया है उससे हम दो अर्थ निकाल सकते हैं। इसका एक अर्थ तो सीधा वैदिक कथन कहा जा सकता है, जैसा कि भक्ति डिक्शनरी में लिखा है। किंतु बाबा कीनाराम के अघोर व्यक्तित्व को देखते हुए हम इसका अर्थ एक अलग प्रकार से भी निकाल सकते हैं। यहाँ पहले शब्द "श्रुति" का अर्थ तो हम वैदिक कथन के रूप में ले सकते हैं, लेकिन दूसरे शब्द, "सिद्धांत" को हम शैव-सिद्धांत का निरूपण भी मान सकते हैं। इस प्रकार की अर्थ-बाहुल्य अभिव्यक्तियाँ कोई अतिशयोक्ति नहीं हैं। वे इस काव्य धारा के सौंदर्य की परिचायक हैं जहाँ पाठक अपने ही मनन-चिंतन से कई प्रकार के अर्थों का अनुसंधान कर सकते हैं।

rāma nāma satasaṅga sama sādhana aura na koi;
śruti siddhānta vicāra yaha jānai biralā koi. **3**.

The good company of Ram's name
Is the best way to (reach this knowledge);
sacred scriptures have said so too,
knowing it, though, but few can claim. **3**.

The discovery of this divine light is just not possible unless one makes Ram's (God's) name a constant companion in their life. That is to say, they maintain a constant memory of the name of God in their everyday life, while keeping good company.. This, Baba Kinaram emphasizes, is something that has been attested to even ancient (Hindu) scriptures. And yet, it remains a difficult feat, attained by but a rare few.

The two words that comprise the term *śruti siddhānta* are interesting in this couplet. Normally *śruti siddhānta* is understood as the Vedic principle, see Bhakti Dictionary (Callewaert 2009). But it is possible that Baba Kinaram, an Aughar saint, means both the Vedic (giving us the first Sanskrit word *śruti*) as well as the *Shaiva-siddhanta* (giving us the second Sanskrit word *siddhānta*) principles in this verse. Such a plurality of possible meanings is a part of the beauty in such spiritual poetry. Thus, a devotee can ponder over the subtle hues in meaning that accrue as one consciously focuses on specific words in the couplet. However, it does not make the task of the translator any easy, rendering all translation a matter of interpretation.

जिन्ह जाना तिन्ह जानिया मन वच कर्म विश्वास ।[1]
अविचल पायो अमर पद रहित सबै जगत्रास ॥4॥

जिन्होंने जाना, उन्होंने मन, वचन, कर्म से पूरी तरह अड़िग विश्वास कर ही जगत के दु:ख से रहित इस स्थिर अवस्था को पाया ॥ 4 ॥

जिन लोगों को इस प्रकाश को जानने में सफलता मिली, उन्होंने पाया कि यह ज्ञान मन, वचन, कर्म और विश्वास से एकनिष्ठ होकर प्रयास करने से ही पाया जा सकता है। और एक बार यह प्राप्त हो गया तो यह पूरी तरह से उनके विचारों, हृदय के स्पंदन, क्रियाओं और उनकी श्रद्धा और विश्वास पर ऐसा सशक्त प्रभाव डालता है कि जगत के जंजाल से उन्हें मुक्ति मिल जाती है। ऐसा नहीं है कि फिर उनके जीवन में कठिनाइयाँ आती ही न हों। लेकिन आने पर भी वे इनसे विचलित नहीं होते, आनंद से जीवनयापन करते हैं। वे एक ऐसे पद को पा जाते हैं जिससे वे जीवन-मरण की उत्कंठा से भी मुक्त होकर एक अमरत्व की स्थिति में पहुँच जाते हैं।

1 दोहा रचना की तुलना के लिए देखें रामचरितमानस, सुंदरकाण्ड 13: जाना मन क्रम वचन यह कृपासिंधु कर दास।

jinha jānā tinha jāniyā mana-vaca-karma-viśvāsa;[1]
avicala pāyo amara pada rahita sabai jagatrāsa. **4**.

Those who knew, reached this knowledge
with their mind, speech, acts and faith;
Steadfast, they found the eternal state
free from the suffering of the world. **4**.

Still, those who have managed to find this eternal joy, this light, discovered that once they got to know it, this knowledge completely permeated their thoughts, their heart, their actions, as well as their faith. In fact, the unity of these four with a single mindedness of purpose was instrumental in realizing this knowledge in the first place. Once known, the effect of such knowledge was so profound and constant that it led them to a state of existence which was not only eternal, in that now they had transcended the fate that befalls evanescent things, but also, where the trials and tribulations which assail the residents of this world no longer existed. This immortal life, then, is intrinsically divine in nature, untouched by the constrictions of the world's fetters.

1 For a comparison of the structure of the couplet, see *Rāmacaritamānas*, *Sundarkāṇḍa* 13: *jānā mana krama vacana yaha kṛpāsindhu kara dāsa* (knew it with all their words, mind and actions, as a server of the ever-compassionate lord).

आशा चिंता शंकना बहु डाइन घर माहिं ।
सतगुरु चरन बिचार बिनु नेकु नहीं बिलगाहिं ॥5॥[2]

बहुत तरह की कुत्सित भावनाएँ जैसे आशा, चिंता, शंका हममें ही घर बना कर रहती हैं। जब तक कि सतगुरु के चरणों का ध्यान न धरें, वे जाती नहीं हैं ॥ **5** ॥

किंतु इस पथ पर निकलते समय अनेक कठिनाइयों का सामना करने के लिये तत्पर रहना आवश्यक है। ऐसा इसलिये है क्योंकि नाना प्रकार की आशाएँ, अनेकानेक चिंताएँ, अपने प्रयासों या परिस्थितियों के संदर्भ में हर मनुष्य को उद्वेलित करती हैं। इस प्रकार की आशा या चिंता अथवा शंका किसी मन पर कुप्रभाव डालने वाली दुरात्मा की तरह उनके प्रयासों को शिथिल कर देती हैं। इनसे छुटकारा तभी मिल सकता है जब कि जिज्ञासु व्यक्ति को एक सतगुरु मिल जाएँ। यदि सतगुरु मिल जाते हैं तो फिर उनके चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उनके चरणों का स्मरण करने से ऐसी दुरात्मा रुपी कठिनाइयाँ स्वयं अलग हो जाती हैं।

2 इससे कुछ मिलती-जुलती पंक्ति राहुल साँकृत्यायन द्वारा सम्पादित (1957) दोहा कोश, उपदेशगीति, पृ. 105 के पद संख्या 14 में है – आशा शंका विष से योगी चित्त मातै तो सहज ज्ञान में बसि वह बद्ध होई।

āśā cintā śaṅkanā bahu ḍāina ghara māhĩ;
sataguru carana bicāra binu neku nahĩ bilagāhĩ.[2] **5**.

Hope, worry and uncertainties,
many demonesses are in our home;
Without reflection on the guru's feet,
they never leave us alone. **5**.

It is difficult to find this eternal state because while walking on this path, a human being is assailed continuously by many kinds of debilitating forces. These – hope, worry, and doubt – to name a few, are so close to them, as if they were in their own home. The aggravation caused by these destabilizing forces is so acute that Baba Kinaram calls them demonic forces. The only way to neutralize these demonic forces is to hold tight with faith to the reverence of one's guru's feet. Once the guru makes a place in the seeker's heart, these demonic forces begin to lose their grip on that person.

2 A similar thought is visible in Sankrityayan 1957, 105 v. 14 – *āśā śaṅkā viṣ se yogī citta mātae to, sahaj gyān mẽ basi vah baddha hoī* (when a yogi's mind is overpowered by hopes and doubts, it is the recourse to spontaneous knowledge that ameliorates their condition.)

जगदानंद कृपाल गुरु अंतर रहित उदार ।
रामकिना बंदत सदा बिगत समस्त विकार ॥6॥

सद्गुरु ऐसे होते हैं कि उनकी करुणा-कृपा का कभी अंत नहीं होता। किनाराम कहते हैं कि उनकी आराधना करने से अपने सभी विकारों का नाश हो जाता है ॥ **6** ॥

जो सतगुरु होते हैं वे स्वभावत: कृपालु होते हैं, उनका हृदय बहुत ही उदार होता है। उनकी उदारता इतनी अगाध होती है कि उसमें एक क्षण का भी अवरोध नहीं आता है। और न वे इस प्रकार खुले हृदय से लुटाने में किसी प्रकार का भेद-भाव बरतते हैं। वे जगत को आनंद प्रदान करने वाले होते हैं। कीनाराम ऐसे अपने गुरु की सदा वंदना करते हैं क्योंकि एक पारस पत्थर की तरह विकार-रहित गुरु अपने निकट आने वाले हर व्यक्ति को सभी प्रकार से विकार-रहित कर देते हैं।

jagadānanda kṛpāla guru antara rahita udāra;
Rāmakinā bandata sadā bigata samasta vikāra. **6**.

The compassionate guru, joy of this world,
Eternally generous without discriminations;
Kinaram always prays to him,
Thus, gone are all his imperfections. **6**.

The compassionate guru, verily the joy of this world, is generous beyond all measure. Such a guru is so kind that their beneficence continues without even a moment's break. Nor do they discriminate in bestowing their kindness on everyone. Kinaram venerates him all the time because venerating such a faultless guru, like the touch of the proverbial philosopher's stone, automatically makes all one's imperfections go away. This, then, paves the way for the perfect state that the seeker tries to achieve.[3]

3 In this couplet again we see the possibility of two interpretations. The translation provided above flows naturally from Baba Kinaram's humility as a disciple. But the way that the words have been put together, the second interpretation which follows, is also possible: "The compassionate guru, constantly in ecstatic joy of the world within, is generous to all without discriminating with anyone. Kinaram bows to him constantly for he has conquered all his imperfections to become such an exalted guru. This perfect state of his guru makes Kinaram fully devoted to him". If this interpretation was indeed Baba Kinaram's intention, then the translation will be: "Joy of this world – compassionate guru, generous *sans* discriminations, Kinaram prays constantly to him, [the one] devoid of all imperfections".

कल्पनहूँ के कल्पतरु गुरु दयाल जिय जानि ।
शिवाराम है नाम शुचि रामकिना पहिचानि ॥7॥

कल्पना में भी गुरु का ध्यान कल्पतरु का फल देता है। अपने उन दीप्तिमान् नाम वाले गुरु शिवाराम जी को किनाराम ने पहचान लिया ॥ **7** ॥

भारतीय शास्त्रों में विभिन्न नामों से 'कल्पतरु' या 'कल्पवृक्ष', या 'कल्पद्रुम' की परिकल्पना पाई जाती है।[3] यह उसी प्रकार की परिकल्पना है जैसी 'कामधेनु' की, जो सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति करने वाली मातृ-रूपा है। कल्पतरु की छाया में भी बैठने से हर प्रकार के फलों को प्राप्त किया जा सकता है। एक सतगुरु की शरण इसी प्रकार के कल्पतरु की तरह होती है। लेकिन एक प्रकार से, उससे भी अच्छी, क्योंकि कल्पतरु को ढूँढ़ने पर यदि वह मिल जाए तो, उसकी छाया में बैठने से मनचाहे फल प्राप्त किये जा सकते हैं। लेकिन सत-गुरु तो ऐसे कल्पतरु होते हैं जिनके विचार-मात्र से, जिनके स्मरण-मात्र से, मनोवांछित फल मिल जाते हैं। लेकिन ऐसे सतगुरु को हृदय में पहचानना आवश्यक होता है। कीनाराम ने यह उद्देश्य पूरा कर लिया। उन्हों-ने शिवाराम नाम के अपने गुरु को सहज ही पहचान लिया।

3 देखें गुप्त 2019, 41 (श्रीविष्णुपुराण 1.9.95); क्रुक 1896, 88-9.

Kalpanahũ ke kalpataru guru dayāla jiya jāni;
Śivārāma hai nāma śuci Rāmakinā pahicāni. **7.**

A wish-fulfilling tree even if imagined,
His heart felt the compassionate guru;
with the radiant name of Shivaram,
Kinaram recognized his own guru. **7.**

In the Hindu scriptures there exists the imagination of a wish fulfilling tree called variously as the '*Kalpavrikṣa*' or '*Kalpataru*' or '*Kalpadrum*'. It can grant all wishes and desires. Just like this wish fulfilling tree, a true guru is so generous that he fulfills all one's desires. One may never come across such a tree in their lifetime, but if such a tree, the true guru, is seen but in a dream, or just imagined even, it can still lead to the fulfillment of one's wishes. The trick is to recognize such a guru when one comes across him. Kinaram was fortunate in this regard because he recognized his own guru who was known as Shivaram. This is the straightforward interpretation of this verse. But again, there is room for an alternate interpretation.[4]

4 The word *Kalpanahũ* which Baba Kinaram has used creates room for more than one kind of imagination. In Hindi as well as in Braj languages *kalpa* as well as *kalpan* can indicate 'imagination' (see Callewaert 2009 and Tandan 1974, part 2). If this meaning is taken, then the passage above is the appropriate interpretation. But there is a second meaning. The word *kalpa* in both Sanskrit and Hindi can mean an eon, a very long period of time. If Baba Kinaram intended to portray a fabulously long period of time in which the munificence of such a guru prevails, then this second interpretation which follows, will also be suitable: One should know that the heart of such a guru is so generous that he grants wishes even to the *Kalpas* – eons of time as imagined in the Hindu tradition – or, he fulfills wishes in every eon like a wish fulfilling tree. Kinaram recognized such a guru in Shivaram. There can be a third interpretation also, since the Aghor tradition has Tantra Yoga built into it. In such yoga the *anāhatacakra* of the subtle body (see Rigopoulos 2021, 341 fn. 28), equated with the heart-lotus, is deemed the place of the *Kalpataru*, the wish fulfilling tree. Since Shivaram is his guru, and he recognized him in his heart, it will indicate the presence of his guru in his heart-lotus.

सतगुरु समरथ साँचि लखि वर प्रसाद उर पाय ।
आत्मा अनुभव की कथा कछु इक कहौं जनाय ॥8॥

ऐसे समर्थ गुरु को पाकर, और हृदय में उनका आशीर्वाद प्राप्त कर, वे अपनी आत्मा के अनुभव के विषय में बताते हैं ॥ 8 ॥

जो समर्थ सतगुरु होते हैं वे तो सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर चुके होते हैं। सत्य का साक्षात्कार करने के बाद वे सर्व-विधि समर्थ हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में वे अपने ज्ञान का प्रसाद औरों के साथ बाँट सकते हैं। यही बात बाबा कीनाराम के साथ हुई। उन्होंने अपने गुरु से इस प्रसाद को प्राप्त किया, उसको हृदय में सहेजकर रखा, और उससे उन्हें जो अनुभव हुआ उसका विवरण वे यहाँ व्यक्त कर रहे हैं।

sataguru samaratha sa̅ci lakhi vara prasāda ura pāya;
ātmā anubhava kī kathā kachu ik kahaũ janāya. **8**.

The able guru saw the truth,
in my heart I felt his grace;
the story of that experience of the Self,
I reveal some in my retelling here. **8**.

The true guru, who was able in every way (including in the ways to perceive and experience the ultimate truth), got to know this truth very well. Having experienced it, he can guide others on the path to have the same experience. This is what happened with Baba Kinaram. He says, then I received that same experience through his grace and held it closely deep in my heart. It is the story of some of that experience that I now reveal in some detail.

पुरी द्वारिका गोमती गंगा सागर तीर ।
दत्तात्रय मोहिं कहँ मिले हरन महा भव पीर ॥9॥

पुरी, द्वारिका, गोमती, गंगा सागर जैसे कई स्थानों में, दत्तात्रेय मुझसे भव-सागर की पीड़ा का समाधान करने के लिये मिले ॥ **9** ॥

बाबा कीनाराम भ्रमण करते हुए कई तीर्थस्थलों में गए। उनको ऐसा अनुभव हुआ कि उड़ीसा के जगन्नाथपुरी, गुजरात की द्वारिका, उत्तर प्रदेश की गोमती नदी (सम्भवत: लखनऊ में नैमिषारण्य के पास) और पश्चिम बंगाल में गंगासागर तीर्थ में (जहाँ सुरसरि गंगा सागर का आलिंगन करती है) श्री दत्तात्रेय से उनकी भेंट हुई। श्री दत्तात्रेय का यह अनुग्रह उनपर इसलिये हुआ क्योंकि वे कीनाराम बाबा की संसार सागर में डूबने-उतराने की पीड़ा को हर लेने में उनकी सहायता करना चाहते थे।

purī dwārikā gomatī gaṅgā sāgara tīra;
dattātraya mohĩ kahã mile harana mahā bhava pīra. **9**.

At Jagannathpuri, Dwaraka, river Gomati,
the banks of the Ganga Sagar island;
Dattatreya revealed himself to free me,
from suffering of the worldly existence. **9**.

Baba Kinaram traveled through many different places of pilgrimage. In many of these places, as he traveled through Jagannathpuri (on the east coast of India in the present state of Odisha), Dwaraka (on the west coast of India in the present state of Gujarat), at the Gomati river (in the present state of Uttar Pradesh where, some distance north from the state capital city of Lucknow lies the holy pilgrimage spot of Naimisharanya), and even at Gangasagar (an island in the present day state of West-Bengal where the river Ganges enters the ocean), he felt that saint Dattatreya revealed himself to him so that he could save him from this great anguish, this frightening pain of the worldly existence.

आसापुरी शक्ति युत शिव सिद्धेश्वर जान ।
तिन्ह सों यह वर हौं लयो वचन सिद्ध को ज्ञान ॥10॥

मैंने यह जाना कि वे आशापुरी की देवी (हिंगलाज) की शक्ति से संयुक्त शैव सिद्ध पुरुष हैं। उनके वरदान से मुझे अपनी वाणी को सत्य में परिणति देने की सिद्धि मिली ॥ **10** ॥

इस प्रकार की भेंट होने पर बाबा कीनाराम को ऐसा आभास हुआ कि अरे! यह तो सक्षात शिव स्वरूप हैं, सिद्धेश्वर हैं, भगवान् शिव की ही तरह सब प्रकार से शक्ति से संयुक्त हैं। यह शक्ति आशापुरी (जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में हिंगलाज देवी से सम्बद्ध है) की देवी हैं। उन सिद्धेश्वर का अनुग्रह होने पर बाबा कीनाराम को भी एक सिद्धि प्राप्त हुई, जिससे कि जो कुछ भी वे कहें वह सत्य हो जाय।

āsāpurī śakti yuta śiva siddhēśvara jāna;
tinha sõ yaha vara haũ layo vacana siddha ko gyāna. **10**.

United with the power of the Goddess at Ashapuri,[5]
I knew him to be a perfect Shaiva siddha;
from him I have received this blessing,
to make my spoken words come true. **10**.

He is a *Siddheśvara* (a spiritually enlightened person endowed with unlimited supernatural powers) like the God Shiva, who is organically united with the creative power (*Shakti*) of the Goddess occupying the seat of Ashapuri (referring to the seat of Hinglaj in western Pakistan in the present time).[6] Knowing of this exalted state of his, I was fortunate enough to receive this boon from him whereby whatever I say, comes true. This statement implies that Baba Kinaram had the power that whatever he said would happen.

5 At the place called Ashapuri, it is the Goddess Hinglaj who presides.

6 Although the seat of Hinglaj lies now in the Las Belas region of western Pakistan, in the undivided India before partition, it was (and still is) a very popular place of pilgrimage for both the monks as well as the householders. Today Goddess Hinglaj is referred to as Bibi Nani in that region of Pakistan.

चरन बंदि ऐसो कह्यो ज्ञानरुप रवि देख ।
संशय तिमिर विनासिये कीजैं कृपा विशेष ॥ 11॥

यह देखकर कि वे ज्ञान की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे, मैंने उनकी पाद-पूजा कर उनसे अपनी शंकाओं का समाधान पाने का विनय किया ॥ **11** ॥

श्री दत्तात्रेय से भेंट होने पर बाबा कीनाराम को यह ज्ञात हो गया कि वे निस्संदेह ज्ञान के एक तेजपुंज प्रकाश थे। जब ऐसा विश्वास हो गया तब उन्होंने श्री दत्तात्रेय के चरणों की वंदना की, और यह याचना की कि अब आप मुझपर अपनी विशेष कृपा कीजिये, आप संशय के उस अंधकार का पूर्ण विनाश कर दीजिये जिसके चलते मैं शाश्वत ज्ञान के प्रकाश से वंचित रह जाता हूँ।

carana bandi aiso kahyo gyānarūpa ravi dekha;
saṁśaya timira vināsiye kījaĩ kṛpā viśeṣa. **11**.

I bowed at his feet and said this way,
Seeing that he was a bright sun of knowledge;
please destroy the darkness of doubts,
let me have your special grace. **11**.

When Baba Kinaram saw that he was truly a fount of knowledge, without the slightest doubt a bright Sun of wisdom, he devoted himself to the veneration of his feet. Then he made this request to him, "O Sun of knowledge, grant me this special favor – please expunge the black soot of doubt which holds buried under darkness my exposure to the light of true knowledge".

अति दयाल मम सीस पर कर परस्यो मुनिराय ।
ज्ञान विज्ञान भक्ति दृढ़ दीन्हों हृदय लखाय ॥12॥

उन करुणामय मुनिराज ने मेरे मस्तक पर अपना वरद-हस्त रखते हुए मेरे हृदय में ज्ञान, विज्ञान और भक्ति को आभासित कर दिया ॥ **12** ॥

श्री दत्तात्रेय ने अपनी असीम दयालुता का परिचय दिया। उन्होंने आशीर्वाद के रूप में न केवल बाबा कीनाराम के मस्तक का अपने हाथ से स्पर्श किया, बल्कि ऐसा करते ही उन्होंने अपने भक्त के हृदय में ब्रह्मज्ञान, सांसारिक व्यवहार का विज्ञान और कभी न विचलित होने वाली अखण्ड भक्ति का संचार कर दिया।

ati dayāla mama sīsa para kara parasyo munirāya;
jñāna vijñāna bhakti dṛṛha dīnhõ hṛdaya lakhāya. **12**.

The most compassionate and foremost sage,
placed his hand in blessing on my head;
he strengthened my wisdom, knowledge and devotion,
by making it felt in my heart. **12**.

That very kind saint heard Baba Kinaram's supplication. He put his hand on his head in a gesture of love and assurance. And then he made his heart feel the divine knowledge that accrues from devotion, as also the knowledge beyond normal sensory perceptions, and the knowledge that is arrived at by deduction and reflection. That was the grace of the sage that he fulfilled his earnest desire.

कृपा कर्यो अनुभव कह्यौ काया कमल प्रकास ।
अलख रुप को ज्ञान कहि दियो मोहिं विश्वास ॥ 13॥

उनकी कृपा से मैंने काया कमल में उद्भासित प्रकाश का अनुभव किया। ईश्वर के अलक्ष्य रूप का भी उन्होंने ज्ञान प्रदान कर मेरे विश्वास को और दृढ़ कर दिया ॥ **13** ॥

उनकी यह असीम कृपा थी कि उन्होंने सूक्ष्म शरीर में स्थित काया-कमल के प्रकाश का अनुभव करा दिया। उन्होंने उस न देखी जाने वाली, न पहचानी जाने वाली अलख सत्ता का साक्षात् ज्ञान करा दिया, और इस प्रकार बाबा कीनारम की भक्ति और विश्वास को स्थायी बना दिया।

सूक्ष्म शरीर की यह अवधारण तंत्र शास्त्रों में वर्णित है। उसके अनुसार इसी भौतिक शरीर में षट् चक्रों सहित एक सहस्र-दल कमल विद्यमान है जिसका ज्ञान अभ्यास द्वारा पाया जा सकता है। बाबा कीनाराम के इस कथन से मेल खाता वर्णन गोरखनाथ की वाणियों में भी मिलता है।[4]

4 देखें बड़थ्वाल, गोरखबानी, 161 - "संतोष तिलक तहां पद नृबाणं । ब्रह्म कवल टोपीं पहिरबा त्राणं । मन बैराग मुंद्रा जोई रुपं । बदंत गोरष ए तत अनूपं"। बड़थ्वाल के अनुसार 'ब्रह्म कवल' का अर्थ सहस्रार है। 'मुंद्रा जोई रुपं' उस प्रकाश को इंगित करता है जो इस अनुभव का अंग है।

kṛpā karyo anubhava kahyau kāyā kamala prakāsa;[7]
alakha rūpa ko gyāna kahi diyo mohī viśvāsa. **13**.

He showed his grace and told me of the
light of the lotus-body realization;
revealing the gnosis of the unknowable form,
he gave me conviction. **13**.

He showered Baba Kinaram with his grace by recounting to him the experience of the light which is to be found in the lotus flower that exists in this human body. Guru Dattatreya gave him the knowledge of the imperceptible form (of God), and thus he further strengthened his understanding of this knowledge, which is so difficult to attain. This experience made his faith and conviction even more resolute.

In this couplet Baba Kinaram seems to refer to the subtle body and the thousand petaled lotus that exists at the crown of the head, a notion which encompasses the *cakras* or the power centers as enumerated in Tantric texts. Therefore, he says, 'my guru taught me how to experience that (supernatural) light which lies within the lotus flower that is to be found in this human body'. This interpretation is corroborated in the writings of Gorakhnath also.[8]

7 *kāyā kamal* refers to the subtle body and the conception of the *cakras* within it. See S. Mishra 2004, 175.

8 What is present in the *Gorakh-Bani* also seems to indicate the same idea, except that the terms used are a little different. On page 161 of Barthwal's *Gorakhbani* we have "*santoṣ tilak tahã̃ pad nṛbāṅ. brahma kaval topī̃ pahirabā trāṇam. man bairāg muṅdrā joī rūpam. badanta Gorakh e tat anūpam*. Here, Barthwal interprets *Brahma-kaval* to be the *Sahasrar* in the subtle body and the expression '*muṅdrā joī rūpam*' to mean a vision of the light that is a part of this experience.

परंपरा की हेतु लै सहित विवेक विचारि ।
कह्यौ दया करि तबहि मुनि मोहिं अति दीन निहारि ॥14॥

मुझे इतना दीन-हीन देखकर दयालु मुनि ने मुझे कहा कि निज परम्परा को देखते हुए विवेक के साथ विचार करो ॥ **14** ॥

मुनि दत्तात्रेय ने देखा कि बाबा कीनाराम सब कुछ जानने के लिये किस उत्कंठा से उपस्थित थे, किंतु, चूँकि उनके पास इस सब को जानने का कोई मार्ग निर्दिष्ट नहीं था, उन्होंने उनको समझाया। यह मुनि दत्तात्रेय की अनुकम्पा थी कि उन्होंने कहा, इस बात का मनन करो कि किस प्रकार हमारी परम्परा ने ज्ञान के इस पथ को संपुष्ट और सुरक्षित रखा है। अपने ही विवेक से उस परम्परा के बीच से तुम अपना मार्ग खोज लो।

paramparā kī hetu lai sahita viveka vicāri;
kahyau dayā kari tabahi muni mohī ati dīna nihāri. **14**.

In keeping with the tradition,
with prudence, carefully reflect;
said the sage in his kindness,
seeing my wretched state. **14**.

Then the sage saw how eager Baba Kinaram was to learn everything, and yet how helpless he was to gain this knowledge, not having a clear way to seek it. So, in his compassion, Dattatreya asked Baba Kinaram to look at how the tradition has maintained and carried forth the pursuit of such knowledge, then reflect upon it with the right judgment to discern that which is not easily knowable or understandable.

पुनि मुनि गुरु शिष की कथा जीव ब्रह्म उपदेश ।
नाम रूप लहि सब कह्यौ अलख अनूपम भेष ॥15॥

तत्पश्चात् मुनि ने गुरु-शिष्य संवाद के रूप में मुझे जीव और ब्रह्म के विषय में उपदेश दिया। उन्होंने उस अलक्ष्य के अनुपम भेष और उनके नाम-रूप का भी वर्णन किया ॥ **15** ॥

इस प्रकार गुरु और शिष्य के बीच का संवाद आगे बढ़ा। मुनि दत्तात्रेय ने गुरु और शिष्य के बीच जो सम्बंध होता है उस पर प्रकाश डाला। साथ ही उन्होंने 'जीव' क्या होता है, और इस सृष्टि के रचयिता 'ब्रह्म' के साथ उसका क्या सम्बंध है, यह अपने उपदेश से समझाया। इस वार्ता में उन्होंने इन सब कुछ का वर्णन किया कि उस लक्ष्य न किये जा सकने वाली अनुपम सत्ता का नाम क्या है, उसका रूप क्या है, उसका भेष क्या है, जिसके आधार पर उसको खोजने वाले उसको प्राप्त करते हैं।

puni muni guru śiṣ kī kathā jīva brahma upadeśa;
nāma rūpa lahi saba kahyau alakha anūpama bheṣa. **15**.

Then the lore of the guru and disciple,
teaching on the *Jīva* and the *Brahman*;
he told me all – the excellent nature,
the imperceptible's name and form. **15**.

In this conversation between the Guru and the disciple, Baba Kinaram continues, the sage instructed him in the gnosis of the embodied living-being (*Jīva*), as well as the *Brahman* (the ultimate Godhead which is responsible for the creation of the entire cosmos, which includes the living being). He described everything to him – what is its name (how is it addressed), what is its form, what is its nature and character like, and how does it eventually appear to those who seek it earnestly.

मोहिं प्रबोधे विविध विधि त्रिकालज्ञ भगवान ।
अंतरहित होते भये बानी सत्य प्रमान ॥16॥

उन सर्वज्ञ प्रभु ने ना-ना प्रकार से मुझे स्मबोधित करते हुए सीख दी, जिसका स्वयं-प्रमाणित सत्य मुझमें समाता चला गया ॥ **16** ॥

संसार के सभी रहस्यों को जाननेवाले उन त्रिकालदर्शी भगवान् स्वरूपी मुनि ने कई विधियों से अपने भक्त का मार्ग दर्शन किया। जैसे-जैसे उनकी वाणी से निःसृत शब्दों का मर्म बाबा कीनाराम के अंतर में उतरता गया, वैसे-वैसे उनको प्रतीत होने लगा कि मुनि की वाणी का सत्य अखण्ड था, शाश्वत था, संदेह से परे था।

mohī prabodhe vividha vidhi trikālagya bhagavāna;
antarahita hote bhaye bānī satya pramāna. **16.**

He instructed me in many ways,
the Lord who knows all time;
his teachings sank into me,
with the evident truth of his words. **16**.

The Guru, who knows everything and is therefore omniscient, very much like the omniscient God, instructed him in many different ways to make sure he understood everything that was imparted to him. As he explained it all to Baba Kinaram with diverse elaborations, the matter began to attain clarity before him. The commencement of clarity in his mind made all his doubts vanish as he realized the self-evident veracity of Dattatreya's words.

जस कछु मो कहँ लखि पयौं सोइ समझ उर राखि ।
कहों सो तेहि अनुहार अब सत्य नाम की साखि ॥17॥

जो कुछ भी मुझे समझ आया उसे हृदय में रख, उसी के अनुसार मैं अब उस सत्य सत्ता के साक्ष्य को कहता हूँ ॥ **17** ॥

इस प्रकार का अंतर्निहित ज्ञान उदय होने के बाद भी बाबा कीनाराम की विनम्रता अक्षुण्ण रही। वे केवल इतना ही कहते हैं कि जो कुछ भी मुझे उस समय समझ पड़ा, बस उसी को अपने मन-मस्तिष्क-हृदय में धारण कर, उसी के अनुसार मैं सत्य के उस प्रत्यक्ष स्वरूप का वर्णन करता हूँ।

jasa kachu mo kahã lakhi paryau soi samajha ura rākhi;
kahõ so tehi anuhāra aba satya nāma kī sākhi. **17.**

All that I was able to understand,
that knowledge I placed in my heart;
now in accordance with that insight,
I narrate the witness of the true name. **17.**

The wise guru did not omit to explain anything to him. He took to heart all that came into his understanding at that time. It is according to that understanding that he now relates to us how he witnessed the exposition of the true name (of God).

वर बानी भाषा रुचिर त्रिविध छंद रति मानि ।
ज्ञान अंग वैराग्य को पुनि विज्ञान बखानि ॥18॥

तीन प्रकार के चित्ताकर्षक छंदों की रोचक भाषा में ज्ञान, वैराज्ञ और फिर विज्ञान का बखान करता हूँ ॥ **18** ॥

वे कहते हैं कि उन्होंने इस वर्णन के लिये रोचक और आकर्षक भाषा का विधान किया है। इसको रचने के लिये उन्होंने तीन प्रकार के छंदों (दोहा, चौपाई और छप्पय) का प्रयोग किया है। इस मनोरम भाषा में उन्होंने, आध्यात्मिक ज्ञान, उसके लिये आवश्यक वैराज्ञ, और उसके बाद व्यावहारिक विज्ञान के विषयों का सविस्तार वर्णन किया है।

vara bānī bhāṣā rucira trividha chanda rati māni;
jñāna aṅga vairāgya ko puni vijñāna bakhāni.[9] **18**.

In precious words and radiant language,
Delighting in verses of the three styles;
first the theme of wisdom and detachment,
Then the practical knowledge I describe. **18**.

The language (that I have used for this purpose) is interesting and attractive. It is constructed using the poetic meters of three types (*dohā*, *chappaya*, and *caupāī*). Using this delightful poetic mode of communication, I have described the themes (chapters or sections) of wisdom, detachment and also of discursive knowledge.

9 In the Hindu spiritual context, the meaning of the word *vigyān* (Hindi) or *viñjāna* (Sanskrit) is somewhat specific. In normal parlance this word implies science. But when talking about the practice of attaining subtle spiritual knowledge, it refers to the practical way of acting and interacting in the world, as well as discursive knowledge arrived at by experience. See Djurdjevic, Singh 2019, 36 for the difference between knowledge gained through studies, and knowledge gained by spiritual experience.

साखी षटपद चौपाई अक्षर अर्थ विवेक ।
रामकिना सो जानिहैं जिन्ह के हरि गुरु एक ॥19॥

मात्राबद्ध दोहों, छप्पयों और चौपाइयों के हर अक्षर में ज्ञान-गुण भरा हुआ है। जिनके गुरु उनके लिये ईश्वर समान पूजनीय हैं, वे उन्हें समझ जाएँगे ॥ **19** ॥

वे बताते हैं कि उन्होंने मात्राबद्ध दो पंक्तियों की साखी (जो प्राय: दोहे का रूप लेती है), छ: पंक्तियों के छप्पय, और चौपाइयों के हर अक्षर में बड़े विवेक और मनोयोग के साथ अर्थ को पिरोया है। उनका कहना है कि इनको पढ़ने के बाद वे लोग, जिनको अपने गुरु और ईश्वर में एक समान विश्वास है, या जो गुरु और ईश्वर को एक ही मानते हैं, इस अर्थ को सहज ही ग्रहण कर लेंगे।

sākhī ṣaṭapada caupāī akṣara artha viveka;
Rāmakinā so jānihaĩ jinha ke hari guru ek. **19**.

The verses of two, six, and four lines,
and the wisdom inherent in each word;
will be clear to those for whom,
their God and the Guru are one. **19**.

In these poetic meters of two-line *sākhīs* (most commonly in the form of *dohā*), the six-line *chappayas* and the four-line *caupāyīs*, each word is full of wisdom and discernment. Each letter in this composition is organically imbued with deep meaning and perceptive insight. Kinaram says only those people will be able to understand it in its holistic nature who are totally devoted to their Guru, as if their Guru is no different from the Godhead who is omniscient.

अच्छर अच्छर को अरथ करि विचार जन सोइ ।
अमर धाम सो पाइ हैं सब विधि संशय खोइ ॥20॥

जो लोग हर अक्षर के अर्थ को गूढ़ता से समझेंगे, उनकी सभी शंकाओं का समाधान हो जाएगा। वे उस शाश्वत अवस्था को प्राप्त करेंगे जो अनश्वर है ॥ **20** ॥

वे बल देकर कहते हैं कि जो लोग इस वर्णन का पाठ करते समय हर अक्षर के अर्थ पर चिंतन-मनन करेंगे, उसकी गूढ़ता तक जाने का प्रयास करेंगे, उनको अवश्य ही उस ज्ञान का आभास होगा जिसको पाना दुष्कर है। जब यह ज्ञान उनकी बुद्धि में समाने लगेगा तो उनके सभी संशय, सभी दुविधाएँ जाती रहेंगी। जब ऐसा होगा तब वे निश्चित रूप से उस कभी विनष्ट न होने वाली गति को प्राप्त कर लेंगे जो दुर्लभ है।

acchara acchara ko aratha kari vicāra jana soi;
amara dhāma so pāihaĩ saba vidhi saṁśaya khoi. **20**.

Those who contemplate upon
the meaning of each single word;
they will attain the eternal abode,
losing their doubts in every way. **20**.

While reading this text, those persons who reflect deeply upon each word, and ponder over it in their mind, will lose all the doubts (that have been their companions all through their life). This new understanding will then make them arrive at that exalted place which is described as being immortal and indestructible (since it harbors the one truth that is eternal and does not change).

द्वैताद्वैत सुनत मिटै पंचाकृत को वाद ।
सो जानै जाके कछू सतगुरु चरन प्रसाद ॥ 21॥

द्वैत और अद्वैत की चर्चा सुनकर पंच-महाभूतों द्वारा जनित विडम्बना की इति हो जाती है। जिनको गुरु के चरणों का प्रसाद प्राप्त है, वे इसे जान जाएँगे ॥ **21** ॥

यह सम्पूर्ण सृष्टि पंचमहाभूतों के असंख्य विधि-विधानों से घुलने-मिलने का परिणाम है। ये पंचमहाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, और पवन कहे जाते हैं। उक्ति भी है, "क्षिति, जल, पावक, गगन समीरा, पंच रचित निज मनुज सरीरा"। इनके क्रम-परिवर्तन और विशिष्ट संयोजन का प्रभाव यह होता है कि एक, अविभाज्य, अद्वैत सृष्टि विभाज्य, द्वैत और असंख्य कारकों वाली प्रतीत होने लगती है। यह अद्वैत सृष्टि में द्वैत का भाव आरोपित करता है। किंतु बाबा कीनाराम के उद्बोधन का पाठ करने से पंचमहाभूतों द्वारा रचित यह द्वैत-अद्वैत का भाव जाता रहता है। इसको वे लोग सहज जान जाएँगे जिन्होंने अपने गुरु के चरणों में बैठकर ज्ञानार्जन करने का अभ्यास किया है।

dvaitādvaita sunata miṭai pañcākṛita kō vāda;
so jānai jāke kachū sataguru carana prasāda. **21**.

hearing the discourse on the two and the one,
ends the polemic of five elements;
those who have the grace of guru's feet,
will surely understand it well. **21**.

As one goes through the discourse on duality and non-duality inherent in these poetic meters, the confusion created by the incessant combinations of the five original great elements that create this world begins to subside (these five great elements, often called the *pañcamahābhūta*, are enumerated as the earth, the water, the fire, the sky or open space or ether, and the wind). Anyone who has the grace, and the fortune to have gained knowledge at the feet of their Guru, will achieve liberation from these doubts and overwhelming contradictions about the world created by the innumerable permutations of these five.

दोहा दोहा सो समुझि चौपाई चित जोइ ।
षटपद अर्थ विचार तें बहुरि न संशय होइ ॥22॥

जो हर दोहे को समझेंगे, हर चौपाई को हृदय में स्थान देंगे, हर छप्पय पर विचार करेंगे, उनकी सभी शंकाएँ विलुप्त हो जाएँगी ॥ **22** ॥

जो लोग हर दोहे को समझने का प्रयास करेंगे, हर चौपाई का मन में मनन करेंगे, और छप्पयों के अर्थों को समझने में परिश्रम करेंगे, तो उनके सभी संशय, सभी संदेह तिरोहित होते जाएँगे। उनके जीवन में जो विरोधाभास या विषमताएँ उत्पन्न होती रही हैं, वे सब विलीन हो जाएँगी। फिर उन्हें जीवन में संशय का सामना नहीं करना पड़ेगा।

dohā dohā so samujhi caupāī cita joi;
ṣaṭapada artha vicāra tẽ bahuri na saṁśaya hoi. **22**.

Those who understand each *dohā*,
on the *caupāīs* fix their mind;
reflect on the six-line verses,
will leave all doubts behind. **22**.

A person who truly understands the import of each couplet nominated as the two-line *dohā*, then assimilates in his heart the message of each four-line verse called the *caupāī*, and reflects deeply on the meaning of the six-line verses termed *chappayas*, will truly be free of doubts. All uncertainties which are generated by the dilemmas encountered in life will not arise again for such a person.

मन बुधि चित अहंकार महँ सोइ नाम ठहराय ।[5]
विवेकसार बरनों कछू श्री गुरु सदा सहाय ॥23॥

उसी एक शाश्वत नाम को मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में स्थापित कर मैं विवेकसार का वर्णन करता हूँ। सद्गुरु सदा मेरी सहायता करें ॥ **23** ॥

वेदांतसार में अंत:करण के चार अंशों का निरूपण है। इनको मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की संज्ञा दी जाती है। बाबा कीनाराम कहते हैं कि उन्होंने अपने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में उस ईश्वर के नाम, या उस गुरुमंत्र को दृढ़ रूप से स्थापित कर लिया है। अब वे विवेकसार का वर्णन करने के लिये तत्पर हैं। वे प्रार्थना करते हैं कि उनके गुरुदेव इस कार्य में उनकी सदा सहायता करें।

5 तु. चर्यापद, 164 संख्या 38-2 – 'चित्त नाम ठहराय'।

mana budhi cita ahaṃkāra mahã sōi nāma ṭhaharāya;[10]
Vivēksāra baranõ kachū śrī guru sadā sahāya. **23**.

in the mind, intellect, heart, and ego,
that very name well placed;
some essence of wisdom I describe,
may the guru keep constant grace. **23**.

Baba Kinaram points out that at this point he has firmly established that very name (of God) in his mind, thought or intellect, consciousness or the heart space and the sense of self or ego. He is now ready to commence the description of the *Viveksār* – this essence of wisdom and discernment. He prays that his Guru may always be with him to help in this endeavor.

10 Compare Chaturvedi 1969, 164 no. 38-2 – '*citta nām ṭhaharāy*' (placing the name in the heart).

ब्रह्मानंद सुबोधमय आतम अनघ अकाम ।
छंदरहित आकाशवत अलख निरंतर नाम ॥24॥

ब्रह्मानंद में सिंचित उस निष्कलंक, निष्काम स्वात्मा को जाना जा सकता है। उस अलक्ष्य परमात्मा की प्रतिछवि, वह भी सीमाओं से परे, असीम आकाश सरीखे है ॥ **24** ॥

इस पुनीत कार्य का शुभारम्भ करते ही वे इंगित करते हैं कि शरीर में स्थित जो आत्मा है वह ज्ञानगम्य है, उसे जाना जा सकता है। वह सृष्टि के रचयिता उस ब्रह्म का अंशभूत होने के कारण उसी ब्रह्मानंद में रमण करती है। उसमें किसी प्रकार की इच्छा-आकांक्षा का न उदय होता है न अंत होता है। इस प्रकार की सभी महत्वाकांक्षाओं से रहित होने के कारण वह सम्पूर्ण रूप से शुद्ध है, पवित्र है। चूँकि उसमें न कुछ उदय होता है न अस्त होता है, वह आकाशवत् है – जिसे देखने से केवल रिक्त स्थान दिखता है, लेकिन अपनी सम्पूर्णता में वह सभी कुछ को आच्छादित किये रहता है। इसी कारण से उसे 'अलख' उपाधि से विभूषित किया जाता है, क्योंकि वह लक्ष्य होने से परे है। आकाश की ही तरह उसमें किसी प्रकार का जोड़-तोड़, माप-दण्ड या अवरोध नहीं है, इसीलिये वह आत्मा निरंतर, अखंड रूप से विद्यमान रहती है।

सन् 1965 में छपी श्री पोथी विवेकसार में यहाँ एक शीर्षक मिलता है – सतगुरु स्वरूप वर्णनम्। अर्थात् यहाँ से श्री सतगुरु के स्वरूप का वर्णन आरम्भ हो रहा है। यह वर्णन इसी दोहे तक सीमित है। यदि इस आधार पर व्याख्या करें तो इस दोहे में प्रयुक्त सभी शब्द, यथा, ब्रह्मानंद, सुबोधमय, आतम, अनघ, अकाम, छंदरहित, आकाशवत, अलख निरंतर, सतगुरु की छवि को, उनके व्यक्तित्व को, उनके असीम ज्ञान को, स्वात्मा के साथ उनके प्रगाढ़ आलिंगन को दर्शाते हैं।

brahmānanda subodhamaya ātama anagha akāma;
chandarahita ākāśavata alakha nirantara nāma. **24**.

In a knowable state of divine bliss,
Is the Self, pure and free from desire;
without measure, just like the sky,
eternal-imperceptible is its name. **24**.

The Self (with the capital 'S' which exists within all of us) is self-imbued with the joy that is experienced by the godhead which has created this cosmos. It is lucid to bring into one's understanding. It is pure and untainted, and it is also free of all kinds of ambition, meaning, it has no desires. It has no limitations and therefore it is boundless like the very sky. Therefore, since it is not easily perceptible and yet remains eternally present, it is called '*Alakh*'. The word '*nirantar*' implies continuity without a break, thus indicating the eternality of God.

The Hindi words used here to describe God – *Alakh* and *Nirantar* – are descriptive cognomen which tell us about the state that God is in, rather than a name ascribed at birth.[11]

The 1965 edition of the *Viveksār* has a section title here – Description of the guru's form. This description is limited only to this verse. If we interpret this verse in the light of this section title, then, instead of describing the divine spirit, the translation provided above will describe the inimitable personality and knowledge of the guru, his unfathomable knowledge, and his existence in a continuous embrace with his own divine self.

11 Amongst the Gorakhnathi ascetics, one of their cries while seeking alms is '*Alakh Nirañjan*'. The word *Nirañjan* implies an entity without attributes or embellishments, and therefore, invisible.

सतगुरु निरखत शिष्य को भयो परम उत्साह ।
चरन बंदि बोलत भयो लह्यौ सबै को लाह ॥25॥[6]

गुरु को निहारते हुए शिष्य में उमंग उमड़ पड़ा। उनकी चरण-वंदना कर उसने कहा कि आपने सभी का कल्याण किया है ॥ **25** ॥

इतना बताकर बाबा कीनाराम कहते हैं कि ज्ञान के इस सार का निरूपण करने में हम गुरु-शिष्य संवाद का जो रूपक ले रहे हैं, उसमें इस यात्रा पर निकलते समय शिष्य गुरु के रूप का ध्यान कर अपने में ही समाहित कर अदम्य उत्साह और आनंद का अनुभव करता है। वह उनके चरणों की वंदना करके कृतज्ञता ज्ञापित करता है कि आपके द्वारा प्रदत्त जो ज्ञान आज मुझे मिला है, उसका वर्णन सभी का कल्याण करने में सक्षम होगा।

6 भाषा के दृष्टिकोण से सुंदरदास, सुंदर ग्रंथावली, ज्ञान समुद्र ग्रंथ – प्रथम उल्लास, 3 संख्या 20 – “गुरु का दर्शन देखतै, शिष पाया संतोष। कारज मेरा अब भया मन में माना मोक्ष।”

satguru nirakhata śiṣya ko bhayo parama utsāha;
carana bandi bolata bhayo lahyau sabai ko lāha.[12] **25**.

The disciple observed the guru with care,
and felt supremely enthralled;
venerating his feet he said,
you have brought benefit to all. **25**.

Continuing with the metaphor of the guru-disciple conversation, at the cusp of moving forward on this quest, as the disciple looked at the form of his Guru, a great wave of joy surged through him. He felt uncontained delight and inspiration rise within his body and mind. With this indescribable sense of joy, he prostrated himself at his guru's feet and said, you have brought a great gain (an indescribable wealth of knowledge) to all. Implying that the knowledge you have imparted to me today will be beneficial to the entire of humanity.

12 From the point of view of the language used to express the disciple's state of mind, this verse is comparable to Sundardas, *Sundar Granthāvalī, Gyāna Samudra Granth*-Pratham Ullās, 3 no. 20 – *guru kā daraśan dekhatai, śiṣ pāyā santoṣ. kāraj merā ab bhayā, man mē mānā mokṣa* (seeing the vision of his guru the disciple felt content. He felt relieved that now his work will be done).

2 ज्ञान अंग

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

पर्यौ कठिन भव फाँस महँ विकल महा भय भीत ।
अपनो करि प्रतिपालिये और नहीं जग मीत ॥26॥

जगत-जंजाल में फँस मैं बहुत व्याकुल और भयभीत हूँ। (हे गुरु!) मुझे अपना माना कर मेरी सहायता कीजिये, जग में मेरा और कोई मित्र नहीं है ॥ **26** ॥

संसार सागर में डूब-उतरा रहे एक प्राणी की मनोव्यथा बाबा कीनाराम शिष्य के रुप में अभिव्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि इस संसार में जन्म लेकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी बड़े जंजाल में फँस गए हों, जिससे निकल पाना बहुत मुश्किल है। एक छोटे बालक की तरह मन काँपने लगता है, विकल हो जाता है, भय से आक्रांत होकर, किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा होकर, यत्र-तत्र खोजने लगता है कि ऐसा कौन होगा जो उसकी सहायता कर सके। लेकिन यदि समर्थ गुरु मिल जाएँ तो सागर के तूफ़ान में इधर-उधर प्रचण्ड लहरों के थपेड़े खाती नौका को एक ठिकाना मिल जाने सरीखे जीवन को एक ठौर मिल जाता है। उस समय यही भावना उजागर होती है कि हे गुरुदेव! अब आप मुझे अपना बना लीजिये। इस जग में आपके अतिरिक्त मेरा और कोई मित्र नहीं है। अब आप जैसे चाहें वैसे ही मुझे अपने पास रखिये।

2 Jñāna aṅga: On the Theme of Knowledge

The Disciple Speaks

|| Dohā ||

paryau kaṭhina bhava phā̃sa mahã vikala mahā bhayabhīta;
apano kari pratipāliye aura nahī̃ jaga mīta. **26.**

Fallen in the tough snare of existence,
I'm distressed, very frightened;
please protect me as your own,
no other friend do I have in this world. **26.**

Here Baba Kinaram channels, in the role of a disciple, the psychology of the living being who is drowning in the unfathomable depths of worldly entanglements. He says:

> Having taken birth in this world, it feels as if I am caught inextricably in the noose of the world as it exists, trapped helplessly like a fish in a net. Like a small child, it makes the heart tremble, it leaves the mind stupefied as to what course of action to take next. There seems to be no one at all who can help. All this makes me most distressed and extremely frightened. But if one is able to find a knowledgeable guru, then, like a boat being tossed about in a wild storm at sea which can find calm waters, the life of a seeker also finds a place of rest. At that time the anguished heart cries out, 'Please, have mercy (O Lord, my guru) and protect me as one of your own. But for you, there does not exist any other true friend in this world'.

आसा चिंता कल्पना काया कर्म को बंध ।
बहु शंका में परि रह्यौ क्यों मगु पावै अंध ॥27॥

आशाओं, चिंताओं, ना-ना प्रकार की कल्पनाओं के अतिरिक्त काया द्वारा किये कर्मों का बंधन जकड़े हुए है। शंकाएँ इतनी अधिक हैं कि किसी नेत्र-विहीन व्यक्ति की भाँति मार्ग नहीं सूझता ॥ **27** ॥

यह जीवन ऐसा है कि यहाँ कर्म के बंधन में पड़ा हुआ प्राणी अनवरत रूप से आशाओं, चिंताओं, और भाँति-भाँति की कल्पनाओं से उद्वेलित होता रहता है। कर्म किये बिना जीवन चलता नहीं है। और यदि कर्म होता है, तो उससे सम्बंधित आशाएँ, चिंताएँ और कल्पनाएँ भी मूर्त होती हैं। उनके चलते 'यह होगा, वह होगा, ऐसा होगा, वैसा होगा' इस तरह की बहुत सी शंकाओं में प्राणी डोलता रहता है। यह स्थिति किसी ऐसे व्यक्ति की तरह होती है जो देख न पाता हो। वह मार्ग टटोलता फिरता है, लेकिन मार्ग मिलता नहीं है।

āsā cintā kalpanā kāyā karma ko bandha;
bahu śaṅkā mẽ pari rahyau kyõ magu pāvai andha. **27.**

hope, anxiety, and distress,
bonds of the body and its actions;
caught in the snare of a million doubts,
how does a blind one find the path? **27.**

The distractions caused by hope and worry and the beguiling imaginations of various kinds, as well as the unavoidable exigencies of the body and its actions, its needs and its desires, create a whole maelstrom of doubts and uncertainties in life. Life cannot continue without performing actions, but the performance of those actions inevitably leads to the swings of hopes and doubts. It is then like a blind man groping for a path, but he does not find it despite making every effort.

विषय वासना जीव तें टारे टरै न कोइ ।
कामादिक अतिसै प्रबल क्यों करि सुख रति होइ ॥28॥

असंख्य प्रयास करने पर भी विषय-भोग की प्रवृत्ति जीवित प्राणी के चित्त से नहीं जाती। जब काम-वासना जैसी प्रबल आसक्तियाँ हों तो शाश्वत सुख की अनुभूति कैसे हो सकती है? ॥ **28** ॥

कर्म का कारण मनुष्य की वासनाएँ, उसकी इच्छाएँ, उसकी महत्वाकांक्षाएँ होती हैं। ये इतनी प्रबल होती हैं कि लाख प्रयास करने पर भी जीव के मन-मस्तिष्क को घेरे रहती हैं। तिस पर काम-वासना और प्रबल होती है। उसकी प्रक्रिया में पड़कर एक बाढ़ में बह जाने सरीखे जीव का जीवन हो जाता है। ये सभी वासनाएँ ऐसी हैं कि क्षणिक सुख का सा अनुभव कराकर अपने चंगुल में जकड़े रखती हैं। क्षणिक होने के कारण फिर वह सुख स्थायी तो रहता नहीं, और दु:ख को जन्म देता है। ऐसे में यदि कोई जीव चाहे कि उसे स्थायी सुख मिले, तो वह कैसे सम्भव हो सकता है।

viṣaya vāsanā jīva tẽ ṭāre ṭarai na koi;
kāmādika atisai prabala kyõ kari sukha rati hoi. **28**.

Desires of the senses do not vanish,
hard though one may try;
erotic desires are so dominant,
how can the heart delight in true joy. **28**.

The passion for worldly pleasure never goes away from the mind of the living being.[13] The erotic desire is so strong that it never allows the living being to experience true and lasting happiness.

The implication of this couplet is that these passions monopolize a living being's senses, giving them a false sense of happiness. But these pleasures are so momentary that when they go away, or even the mere thought of their going away, puts a human being in distress, thus bringing them to the reality of this false happiness.

13 Both Monier-Williams 1956, and Callewaert 2009 list 'living being' as one of the meanings of the word *jīva* that Baba Kinaram has used in this verse. We have chosen to use this meaning because of its general acceptability. It can also be designated as an 'embodied soul' or 'a soul unaware of its true identity'.

जनम मरन संकठ निरखि अधिक त्रास जिय सोइ ।
चरण शरण गुरुदेव अब मोहिं सम दीन न कोइ ॥29॥

जन्म और मृत्यु के संकट को देख मन में भय समा जाता है। हे गुरु, अब मुझे अपनी शरण में ले लें, मुझसे बढ़कर दीन-हीन मनुष्य और कोई नहीं है। ॥ **29** ॥

यदि जीवन जीने में इतने-इतने जंजाल हैं तो इन सबसे विकट एक और संकट है, और वह है मृत्यु की अनिवार्यता। यदि जीव का जन्म हुआ है, तो मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। यह एक ऐसा अथाह गह्वर है जिसके विषय में सोच कर ही हृदय विकम्पित हो उठता है। इससे उपराम होने का यदि कोई मार्ग है तो वह केवल उस अध्यात्म-ज्ञान की प्राप्ति है जिसे पाना दुष्कर है। इसलिये बाबा कीनाराम शिष्य रुप में अपने गुरु से याचना करते हैं कि अब मुझे अपने चरणों में स्थान दे दीजिये, उस ज्ञान का मार्ग बता दीजिये, क्योंकि जीवन के रहस्यों की अनभिज्ञता ने मुझे बहुत ही दीन व्यक्ति बना दिया है, मुझे बहुत ही करुण अवस्था में डाल दिया है।

इस दोहे में जन्म-मरण और चरण-शरण का सामंजस्य उल्लेखनीय है। इन दोनों वाक्यांशों में एक आंतरिक सम्बंध है जो प्राकृतिक है। जन्म-मृत्यु का चक्र ही संसार की रचना को बनाए रखता है। यदि जन्म हुआ है, तो मृत्यु अवश्यम्भावी है। यदि प्राकट्य हुआ है, तो विलीन होना अनिवार्य है। इस चक्रव्यूह को भेदने का यदि कोई मार्ग है, तो वह 'शरण' है। किसकी शरण? सद्गुरु की। शरण सदा चरणों में ही ली जाती है। इसलिये "जनम-मरण" से छूटने के लिये गुरुदेव की "चरण-शरण" आवश्यक है।

janama marana sankaṭha nirakhi adhika trāsa jiya soi;
caraṇa śaraṇa gurudeva aba mohĩ sama dīna na koi. **29**.

Seeing the travails of life and death,
my heart trembles in alarm;
Gurudev, your feet are now my refuge,
there's none as miserable as me. **29**.

There are so many complications in living the life, but even bigger than those complications is the unavoidability of death. If a being is born, then death is inevitable. The living being becomes alarmed looking at the troubles caused by the incessant cycles of life and death. It makes their heart really experience great suffering. Baba Kinaram says these travails of life have affected him too. So, he pleads to his guru, O Guru, please allow me to take shelter at your feet now, for there is none more wretched and miserable than me.

The choice of the phrases *janama marana* (life and death) and *caraṇa śaraṇa* (refuge in the feet) is notable. These two phrases have an internal relationship that is quite natural. It is the cycle of life and death that keeps the cycle of the world in motion. If one is born, it is inevitable that they will die. If someone has appeared, it is inevitable that they will disappear. If there is any way to pierce this cycle, it is *śaraṇa* or refuge. But refuge where? Refuge with the guru. It is also well known that one takes refuge only at the feet. Therefore, to escape the cycle of life and death (*janma-maraṇa*) the refuge at the feet of the guru (*caraṇa śaraṇa*) is necessary.

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

गुरु दयाल शिष सो कह्यो तू अब होइहि ओल ।
एक नाम की साखि लै संशय जिय की खोल ॥30॥

दयालु गुरु ने शिष्य से कहा कि अब तू सुरक्षित अनुभव कर। उस एक नाम को साक्षी मानकर हृदय की सभी संशय-ग्रंथियों को खोल दे ॥ **30** ॥

गुरु दयालु हैं। वे शिष्य की असमंजस की इस अवस्था को समझ रहे हैं। वे आश्वासन देते हैं कि अब समय आ गया है कि तू अपने मन-मस्तिष्क से सभी शंकाओं को तिरोहित कर दे। एक बार ये शंकाएँ तिरोहित हो गईं तो एक ऐसे आत्मविश्वास का संचार होगा जो तुझे आंतरिक सम्बल प्रदान करेगा। तुझमें यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न होगा कि गुरु का वरद-हस्त तेरे माथे पर है। वह मंत्र, वह एक नाम जो गुरु ने तुझे दिया है, जो एक ईश्वरीय स्पंदन है, वह तेरा सहारा बना रहेगा। तू उस स्पंदन का प्रत्यक्ष साक्षी बनेगा। यह नाम एक ऐसी कुंजी है जो संशयों के द्वार बंद कर आध्यात्मिक अनुभव के द्वार खोल देता है।

इस दोहे में “एक नाम की साखि” एक रोचक अभिव्यक्ति है। दोहा संख्या 19 में विवेकसार में प्रयुक्त तीन प्रकार के लयबद्ध पदों, “साखी षटपद चौपाई”, में दोहे के लिये बाबा कीनाराम ने स्वयं साखी शब्द का प्रयोग किया है। कबीर के भी बहुत से वचनों को साखी कहते हैं, जबकि गोरखनाथ की बानियों को सबदी। तो इस दोहे में “एक नाम की साखि” अर्थ-बाहुल्य के दृष्टिकोण से साक्षी, और दोहे के एक और नाम के रूप में, शब्दों का अच्छा खेल प्रस्तुत करते हैं।

The Guru Speaks

|| Dohā ||

guru dayāla śiṣa so kahyo tū aba hoihi ola;
eka nāma kī sākhi lai saṁśaya jiya kī khola. **30.**

The compassionate guru said to the disciple,
now you be truly secure;
holding witness to the one name,
untie the knots of doubts in the mind. **30.**

The kind Guru then reassured the disciple and told him not to lose heart, but in fact, to feel confident and secure in his mind and heart. The disciple can feel secure within himself because he has the protection of the guru who has warded off all such calamities. The guru advises the disciple to be an eyewitness to the nature of the ultimate truth expressed in the one-name (God). This 'one-name' is the key which opens the door to let out all the doubts and ignorance that reside in one's heart and mind. Once those doubts fly away, what remains is fertile ground for divine experience.

In this verse the phrase '*eka nāma kī sākhi*' presents to us the possibility of a pun. In verse number 19 Baba Kinaram has mentioned the three kinds of meter-bound verses as '*sākhī ṣaṭapada caupāī*', implying that *sākhī* is another name for the *dohā*. Many of Kabir's verses are known as *sākhīs*, while those of Gorakhnath as *sabadīs*. His use of the word *sākhi* denoting a 'witness', then presents to us a play on words where the alternate name for the *dohā*, and the name for a witness, are denoted by the same word.

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

देश काल पूरन सदा दिसि अरु विदिसि निरंत ।[7]
पाँच तत्त्व गुण तीन को भेद कहो भगवंत ॥ 31॥

हर देश, काल, दिशाएँ और उनके कोण, सभी में वह अनाम सत्ता सर्वदा विद्यमान है। हे भगवंत (गुरु), आप मुझे पंच-महाभूतों और उनके तीन गुणों के विषय में बताइये ॥ **31** ॥

गुरु के वचन सुनकर शिष्य ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। उस ईश्वर की उपस्थिति ऐसी है कि वह सभी देश, सभी काल, सभी दिशाओं और उनके कोण, विदिशाओं, में व्याप्त हैं। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ वह नहीं हों। किंतु, उनके इस सूक्ष्म स्वरुप के होते हुए भी यह भौतिक जगत इतना स्थूल भासता है, तो यह ऐसा हुआ कैसे। हे गुरुदेव, आप विस्तारपूर्वक समझाइये कि वे पाँच तत्त्व जिन्हें पंचमहाभूत भी कहते हैं, और वे तीन गुण (सत्त्व, रजस और तमस) जो उनके साथ संलग्न रहते हैं, उनका भेद क्या है। किस विधि से वे इस संसार की रचना करते हैं?

'देश काल पूरन सदा' संतों की सहज अभिव्यक्ति है। इस दोहे में बाबा कीनाराम ने 'पूरन' शब्द का प्रयोग किया है। आमतौर पर यह शब्द संस्कृत के 'पूर्ण' शब्द का परिचायक है, जिसका अर्थ होता है 'भरा हुआ', जो अपने आप में पूरा हो। संत साहित्य में इस शब्द का प्रयोग बहुधा ईश्वर के लिये किया जाता है। तुलसीदास ने भी विनय पत्रिका की विनयावली (107, 5) और रामचरितमानस में इसका ऐसा ही प्रयोग किया है।

7 इस पंक्ति की तुलना तुलसीदास की रचनाओं से कर सकते हैं। उदाहरण, "देस-काल-पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु, सबमें बसै, सबकी गति जान।" (विनय पत्रिका, विनयावली 107, 5) और, "देस काल दिसि विदिसिह माहीं । कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।" (रामचरितमानस, बालकाण्ड 185.3)।

The Disciple Speaks

|| Dohā ||

deśa kāla pūrana sadā disi aru vidisi niranta;[14]
pa̐ca tattva guṇa tīna ko bheda kaho bhagavanta. **31.**

The Eternal fills the Time and space
and all the directions continuously;
the five elements and the three attributes,
O lord, reveal their mystery. **31**.

That Eternal (the divine element conceived as God) permeates without cessation all the possible kinds of space – the place, the country, the region, the quarters of the world and the heavens – as well as that which is called Time – past, present, and future. It also fills all the cardinal and ordinal directions. All of these are a creation of the numerous permutations and combinations of the five great elements and the three attributes (*sattva*, *rajas* and *tamas*) which all those five elements have. O Lord (guru), please explain to me, says Baba Kinaram, the secret knowledge that lies at the basis of these five and three.

The expression *deśa kāla pūrana sadā* seems to have been a common and popular way of expressing the presence of the divine in every place, time, country and even the quarters of the heaven, amongst the saints of the time. Tulsidas uses the same expression in the *Vinayāvalī* of *Vinaya-Patrikā* (107, 5) to recognize the presence of Rama, the bow carrying warrior son of king Dasharath, as well as in the *Rāmacaritmānas*. Baba Kinaram expresses the same idea but without an anthropomorphic God. Instead, he denotes the presence of the divine in the fundamental blocks of creation, which are said to be the five primary elements and the three traits of nature.

14 Compare the line from Tulsidas, "*des kāl pūran sadā bad bed purān; Sabko prabhu, sab mẽ basai, sabki gati jān*" (the place and the time are always full [of divinity] say the *Vedas* and the *Puranas*. Eveyone's God is always within them, and knows all about them). (*Vinaya-Patrikā, Vinayāvali* 107, 5). Also, "*des kāl disi vidisiha māhī. Kahahu so kahā̃ jahā̃ prabhu nāhī*" (Tell me any place, time or quarter of the heaven where the God is not). (*Rāmacaritmānas, Bālkāṇḍ* 185.3).

आतम अनातम को कहो पर आतम को रुप ।
समरथ मोहिं समुझाई करि हरो कठिन भ्रम कूप ॥32॥

आत्म और अनात्म का अंतर बताएँ, और यह भी कि पर-आत्म का रूप क्या है। हे सर्व समर्थ गुरु! यह सब समझाकर मुझे भ्रम-जाल के इस अंधकूप से निकालिये ॥ **32** ॥

पंचमहाभूतों और तीन गुणों की चर्चा करने के बाद, हे गुरु, आप मेरे लिये आत्म और अनात्म क्या हैं, उनका क्या रूप है, उनमें क्या भेद है, इसका निरूपण कीजिये। यह भी बताइये कि पर-आत्म क्या होता है और उसका रूप क्या है। हे गुरु, आप हर प्रकार से इन विषयों की चर्चा करने में समर्थ हैं, मुझे ये बातें ठीक से समझाइये कि मैं भ्रम के जिस अंधे कुएँ में पड़ा हुआ हूँ, उससे बाहर निकल सकूँ।

ātama anātama ko kaho para ātam ko rūpa;
samaratha mohī samujhāi kari haro kaṭhina bhrama kūpa. **32**.

Tell me of the Self and the non-Self,
and the form of the Supreme-one
explain to me O able lord,
free me from this deep well of confusion. **32**.

Baba Kinaram continues as a disciple eager to learn. He asks his guru to further explain to him the nature of that which is the truth, the very Self, and that which is not the truth, which is the non-Self. And then of course, there is the supreme-Self, which also needs some explanation. He implores his very able, very knowledgeable guru to delineate it all to him very well so he may be able to climb out of the deep well of confusion in which all these philosophical ideas sink a person.

ज्ञानाज्ञान विचार पुनि कहिये दीन दयाल ।
जेहि तेहि आतम को लहो मेटि विषय जंजाल ॥ 33॥

फिर आप मुझे ज्ञान एवं अज्ञान के विषय में अपने विचार बताइये, ताकि जिस भी प्रकार से हो सके, मैं इस विषय-जंजाल से मुक्त हो उस आत्मज्ञान को प्राप्त कर सकूँ ॥ **33** ॥

वे कहते चले जाते हैं, हे दीन जनों पर दया करने वाले दयालु गुरु, मुझे यह समझाइये कि अज्ञान क्या है, और उसका विपरीत, वास्तविक ज्ञान क्या है। वह अज्ञान जो माया है, वह क्या है? संसार की विषय वासनाओं का जंजाल जिस भी तरह से छूट सके, वह मुझे बताइये। मुझे वह राह दिखाइये जिससे उस आत्म-ज्ञान को प्राप्त किया जा सके जो इस सृष्टि का शाश्वत ज्ञान है।

jñānājñāna vicāra puni kahiye dīna dayāla;
jehi tehi ātama ko laho meṭi viṣaya jañjāla. **33**.

Again, the wisdom or lack thereof,
do tell me O compassionate lord;
in whichever way that Self may be reached,
destroying the snares of this world. **33**.

Baba Kinaram requests his kind guru to tell him how to reflect upon that which is true knowledge, and that which is false knowledge or an illusion. He insists on receiving this knowledge because in the absence of it, it will not be possible to expunge the entrapment of the worldly attractions. Without escaping such an entrapment, one cannot achieve that Self which is stated to be the eternal truth in this creation.

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

अमर बीज को ज्ञान जो शिष्य सुनावों तोहि ।
लघु विशाल नाहीं कछू तू आतमरत होहि ॥34॥

हे शिष्य, मैं तुझे अनश्वर सृष्टि-गर्भाण्ड के विषय में बताता हूँ। इस संसार में कुछ भी बड़ा या छोटा नहीं है, बस तुझे अपनी आत्मा में ही निमग्न हो जाना है ॥ **34** ॥

गुरु ने शिष्य की प्रार्थना सुन ली। वे कहते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति का जो अमर बीज है, जो कभी नष्ट नहीं होता, उस ज्ञान को मैं तुम्हें सुनाता हूँ। लेकिन इस ज्ञान को ग्रहण करने के लिये शिष्य को भी कुछ प्रयास करना पड़ेगा। शिष्य को द्वैत-भाव वाली सोच से ऊपर उठकर अद्वैत-भाव का अनुसरण करना होगा। द्वैत-भाव में जो यह सूझता है कि कुछ छोटा है, या कुछ बड़ा है, यह दृष्टिकोण भ्रामक है, क्योंकि यथार्थ ऐसा नहीं होता। यह सत्य तब स्वत: उजागर हो उठता है जब शिष्य अपने आत्म में, अपनी आत्मा के सान्निध्य में, रमण करने लगता है। क्योंकि आत्मा के दृष्टिकोण से द्वैत होता ही नहीं है, वही स्वयं सभी कुछ में व्याप्त होती है। यह सीख देकर गुरु तब आगे बढ़ते हैं।

The Guru Speaks

|| Dohā ||

amara bīja ko jñāna jo śiṣya sunāvõ tohi;
laghu viśāla nāhĩ kachū tū ātamarata hohi. **34.**

The gnosis of the eternal seed, which
O disciple I recount to you;
there's nothing that is minute or grand,
You stay absorbed in your own Self. **34**.

The guru now responds to Baba Kinaram's prayers. He agrees to share with him the fundamental knowledge of the eternal, everlasting seed of creation. To understand this, however, the disciple would have to give up the duality-prone thinking of the mind. The guru insists that the disciple give up the notion that there is a duality of things, such as things that are large and things that are small, because it is not so. This truth becomes evident when one becomes inseparably immersed in the notion of the eternal Self. From the point of view of the Self, there is no duality. This is the advice that the guru imparts to the disciple as the first point of learning.

रज तम सत अप तेज अरु पवन गगन महि ठान ।
सत्य पुरुष की शक्ति ते भये सकल यह जान ॥35॥

उस सत्यपुरुष ने अपनी इच्छा शक्ति से रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण तथा जल, अग्नि, वायु आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न किया ॥ **35** ॥

अब गुरु सृष्टि की रचना-क्रम का विस्तारपूर्वक वर्णन आरम्भ करते हैं। वे कहते हैं इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना उस सत्य पुरुष (ईश्वर) की सृजन शक्ति का ही परिणाम है। उसी शक्ति की इच्छा से त्रिगुण - रजोगुण, तमोगुण, और सतोगुण – उत्पन्न हुए। यह उसी शक्ति की इच्छा थी कि पंचमहाभूत – अप (जल), तेज (अग्नि), पवन (वायु), गगन (आकाश या शून्य), तथा मही (पृथ्वी) उत्पन्न हुए। यही वे मूल कारक हैं जो समस्त सृष्टि का निर्माण करते हैं। यह शक्ति उसी सत्य पुरुष की रचनाधर्मिता है, उसी सत्य पुरुष का अंग है, उसी की आत्मिका शक्ति है, उससे भिन्न नहीं है।

raja tama sata apa teja aru pavana gagana mahi ṭhāna;
satya puruṣa kī śakti te bhaye sakala yaha jāna. **35***.*

It brought forth Passion, Darkness, Goodness
Water, fire, air, ether, and the earth;
by the True-Being's creative resolve,
Know that they all emerged. **35**.

Now the guru enumerates the building blocks of the creation. He counts the three *guṇas* or attributes that permeate everything as *satoguṇa* (purity, goodness), *rajoguṇa* (passion, emotion), and *tamoguṇa* (darkness, heaviness) – *sat*, *raj*, *tam* – for poetic brevity, and the five great elements as water, fire, air, sky or ether, and earth. Then he states that all these elements and character traits have emerged from the creative power, *Shakti*, of the Satya-Puruṣa, the true being, or the ultimate Godhead.

काम क्रोध मद लोभ रत ममता मत्सर सोच ।
अनआत्मक सो जानिये सब विधि संतत पोच ॥36॥

जो अनात्मक वस्तुएँ हैं उनके नाम हैं काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, स्वार्थ और ईर्ष्या के विचार और व्यवहार। ये वस्तुएँ सर्वदा निकृष्ट हैं ॥ **36** ॥

सत्य पुरुष की आत्मिका शक्ति का वर्णन कर गुरु अब उन अवयवों की चर्चा करते हैं जो 'आत्म' की श्रेणी से सम्बंधित नहीं हैं, किसी तरह उससे पृथक हैं। इस श्रेणी में कौन-कौन सी वस्तुएँ आती हैं? वे हैं काम-वासना, क्रोध, मद या अभिमान, लोभ, किसी भी वस्तु में अतिशय राग होना, ईर्ष्या-द्वेष आदि के विचार जो सभी प्राणियों में विद्यमान रहते हैं। गुरु न केवल इन अवयवों को गिना देते हैं, बल्कि बिना किसी लाग-लपेट के यह भी कह देते हैं ये वस्तुएँ सर्वथा निरर्थक हैं।

kāma krodha mada lobhrata mamatā matsara soca;
ana-ātmaka so jāniye saba vidhi santata poca. **36**.

The vices of lust, anger, ego and greed,
attachment, envy and indulgence;
know them all to be the non-Self,
in every way ever perverse. **36**.

Then the guru begins by pointing out those things which are not the real Self. In this category he lists anger, erotic passion, false pride, greed, obsessive attachment or infatuation, jealousy and such kinds of thoughts which tend to naturally preoccupy every mind. The guru not only points them out to be the non-Self, but also does not mince any words in calling them absolutely useless and debilitating in every way.

आतम सत्य विचार लहि दया सहित आनंद ।
शुचि समता धीरज सहित विगत सबै जग द्वंद ॥37॥

अन्य जीवों पर दया, परमानंद की अनुभूति, पवित्र अभिन्नता का व्यवहार, और धीरज, ये आत्म-सत्य के विचार हैं। इनको धारण करने से जगत का संघर्ष जाता रहता है ॥ **37** ॥

इतना कहकर गुरु उन बातों की पुनरावृत्ति करते हैं जो आध्यात्मिक जीवन के लिये आवश्यक हैं। इनमें सबसे पहले तो है आत्मा की सत्यता में न केवल विश्वास करना, अपितु उसी आत्म-भाव से जीवन जीना। लेकिन जब शिष्य या साधक इस आत्म-भाव में रत होने के साथ ही साथ अपने हृदय में अन्य प्राणियों के लिये दया का भी संचार करता है, और आत्मा का जो सहज आनंद है उसका रसास्वादन करता है, तो एक नवीन प्रकार की अनुभूति होने लगती है। इसके साथ ही यदि वह शुभ कर्म करता है, समदर्शिता और समवर्तिता बरतता है, धीरज नहीं खोता है, तो संसार के सभी द्वंद्व स्वयंमेव विलग हो जाते हैं।

ātama satya vicāra lahi dayā sahita ānanda;
śuci samatā dhīraja sahita vigata sabai jaga dvanda. **37.**

Reflecting on the truth of the Self,
hold compassion and the feeling of joy;
with virtue, equanimity and patience,
all worldly conflicts remain no more. **37**.

Next, the guru comes to those things which can prove to be spiritually wholesome. The foremost amongst these is the reflection on the truth of the ever-present Self, the *Ātmā*. But, when a seeker performs such reflection with compassion for other beings, and a joy for the world in their heart, then new levels of understanding begin to open. Add to this the notable qualities of virtuous deeds, uninterrupted tranquility in one's mind, and unfathomable patience, and *voilà*, all the worldly tensions and strife begin to fall off by themselves.

अनआतम आतम समुझि रहु सतसंग समाइ ।
परआतम तोसो कहिय सुनहु शिष्य चितलाइ ॥38॥

इस प्रकार आत्म और अनात्म वस्तुओं का निर्धारण कर सदा सत्संग में रमे रहो। शिष्य, अब तुम्हें पर-आत्म के विषय में कहता हूँ, ध्यान से सुनो ॥ **38** ॥

जब गुरु द्वारा इंगित आत्म और अनात्म की श्रेणी में आनेवाली वस्तुओं से शिष्य परिचित हो जाता है, साथ ही शुभ कर्म, धीरज, समता आदि का व्यवहार करने लगता है, तो उसे स्वत: अनुभव होने लगता है कि संसार में वह क्या है जो उस आत्मा का अभिन्न अंग है, और वह क्या है जो नहीं है। जैसे-जैसे इस ज्ञान में वृद्धि होती जाती है, इसको बनाए रखने के लिये और इसे और गहरा बनाने के लिये शिष्य को सत्संग रखने, और सत्संग करने की प्रेरणा दी जाती है। वैसे तो आम समाज में सत्संग को अच्छे जनों का संग कहा जाएगा, लेकिन संतवाणी में सत्संग का अर्थ होता है उन साधु-सज्जनों का संग करना जो स्वयं आत्मा के उस अनुसंधान में लगे हुए हैं, उनसे अध्यात्म सम्बंधी विषयों पर चर्चा करना। शिष्य जब इन बातों का व्यवहार करने लगता है तब गुरु उसे परम-आत्मा का रहस्य बताने को तत्पर होते हैं। वे शिष्य से कहते हैं अब उसे दत्तचित्त होकर गुरु-वाणी को सुनना चाहिये।

ana-ātama ātama samujhi rahu satsaṅga samāi;
para-ātam toso kahiya sunahu śiṣya citalāi. **38**.

Discern the non-Self from the Self,
Remain constantly in holy company;
I recount the Supreme-Self to you,
O disciple listen attentively. **38**.

Performing virtuous deeds, remaining patient, maintaining equanimity etc., the disciple will begin to discern the difference between that which is a part of the everlasting Self, and that which is not. As this understanding begins to open to them, to maintain it, they are exhorted to always keep good company, implying, the company of saints, sages and holy people who are themselves immersed in divine contemplation. At this point the guru introduces the idea of the supreme Self and mentions that he is going to inform the disciple about it. Now, the disciple needs to be very attentive to grasp what is being stated.

समुझेही ते ज्ञान है अनसमुझे अज्ञान ।
समुझी समुझि विचार लहि सो कहिये विज्ञान ॥39॥

समझ में आने पर ही ये बातें ज्ञान में परिवर्तित होती हैं, अन्यथा अज्ञान बना ही रहता है। समझ आ जाने पर भी उसपर विचार कर आत्मसात् करने पर ही वह विज्ञान में परिवर्तित होता है ॥ **39** ॥

गुरु इस बात पर बल देते हैं कि शिष्य उनकी वाणी को एकाग्रचित्त होकर सुने क्योंकि यह सारा ज्ञान समझ के ऊपर निर्भर करता है। यदि शिष्य ने इस ज्ञान को समझ लिया, और उसे अंतरतम में पिरो लिया, तो वह प्रबुद्ध हो जाएगा। यह मात्र जानकारी नहीं है, विशुद्ध बोधितत्त्व है। एक बार बुद्धि में समा जाने पर इसका लोप नहीं होता। शिष्य जब समझकर इस ज्ञान का जीवन में व्यवहार करने लगता है तो फिर उसका यह ज्ञान व्यावहारिकता का सम्बल पाकर विज्ञान भी बन जाता है, अर्थात् वह संग्रहीत और क्रमबद्ध ज्ञान जिससे संसार में क्रियात्मक रहा जाय। यह ज्ञान अनुभव-जनित होता है, यथार्थ पर आधारित होता है।

यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान और विज्ञान का स्पष्टीकरण प्रासंगिक है। अध्यात्म में शाश्वत ज्ञान यदि कुछ है तो वह ब्रह्म की अनुभूति का ज्ञान है। इसे अनुभव तो किया जा सकता है, लेकिन इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह वही अवस्था है जिसे वेद भी 'नेति-नेति' कहते हैं। आम जीवन में विज्ञान का अर्थ विशिष्ट शास्त्र के रूप में लिया जाता है जैसे पदार्थ-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, इत्यादि। ये लौकिक शास्त्र संसार को समझने और उसमें क्रियाशील रहने के माध्यम होते हैं। अध्यात्म में विज्ञान ब्रह्म-ज्ञान के अनुभव तक पहुँचने का मार्ग है। लेकिन यह विज्ञान श्रद्धा, विश्वास, ध्यान, धारणा इत्यादिक क्रियाओं के अनुभवों पर आधारित होने के कारण बहुधा अतींद्रिय भी माना जाता है, और अतींदिय अनुभवों के प्रति एक निश्चयात्मक बुद्धि का सृजन करता है। तब साधक इच्छानुसार उन अनुभवों की पुनरावृत्ति कर सकता है जो उसे लौकिक जगत से परे का ज्ञान प्रदान करते हैं। लेखक के विचार से इस दोहे में बाबा कीनाराम इसी प्रकार के विज्ञान को इंगित कर रहे हैं।

samujhehī te jñāna hai ana-samujhe ajñāna;
samujhī samujhi vicāra lahi so kahiye vijñāna. **39**.

Only understanding begets knowledge,
non-comprehension, ignorance;
once understood internalize those insights,
then they are called experienced intelligence. **39**.

The guru insists that the disciple listen to this discourse with rapt attention now because all knowledge rests upon the understanding of it. Once its tenets are grasped, it becomes true knowledge and not just information. Once this understanding is then internalized and the disciple begins to act upon it in their life, thus experiencing its practical application, it becomes a long-lasting wisdom which never goes away. This act of discerning and comprehending leads to an intelligence arrived upon from experienced knowledge.

A brief note on the nature of *jñāna* (knowledge) and *vijñāna* (science) in the realm of spirituality is relevant here. In the realm of spiritual pursuit in Hindu traditions, that which is known as true *jñāna* or knowledge refers to the knowledge of the *Brahman*, the supreme godhead. This knowledge can be experienced, but it cannot be described. This is the condition described by the *Vedas* as '*neti-neti*', not this, not this. In normal worldly life the word *vijñāna* or science refers to the compendium of knowledge about the physical, measurable world such as the physical science, or the chemical science, or the science of astronomy. These sciences help a person acquire knowledge about the physical world, and to manipulate it for worldly purposes. In the way that Baba Kinaram presents what he calls *vijñāna*, it is a *way* of arriving at the experience of the *Brahman*. This *vijñāna*, dependent as it is on faith, devotion, meditation, imagination etc. generates experiences which are often understood to be 'beyond the senses' or extra-sensory. This *vijñāna* leads to the emergence of an intelligence sensitive to extra-sensory experiences whereby, the seeker can replicate those experiences which provide them with the knowledge of the world in the extra-physical or more subtle realms. To the author, this appears to be Baba Kinaram's intention in describing *vijñāna* as he does in this verse.

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

भवखंडन संशयहरन प्रनतपाल गुरुदेव ।
अब आतम जान्यौं कछू पाँच तीन को भेव ॥40॥

संसार के दु:खों और सभी संशयों का नाश करने वाले गुरु, आप शरण में आए हुओं का पालन करते हैं। आपकी कृपा से अब मैं पाँच तत्त्वों और तीन गुणों का भेद समझ पाया हूँ ॥ **40** ॥

गुरु, जो शरण में आए हुओं की रक्षा करते हैं, जो सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान कर देते हैं, उनके वचन सुनकर शिष्य के मन में प्रकाश का उदय हुआ, उसकी बुद्धि में नाना प्रकार की जो दुविधाएँ थीं वे तिरोहित होने लगीं। पंचमहाभूतों और तीन गुणों की जो व्याख्या गुरु ने की उससे शिष्य को सृष्टि के मूल कारकों का बोध हो गया। साथ ही, इन सभी के साथ उस आत्म-तत्त्व, उस आत्मा का क्या सम्बंध है, यह भी कुछ-कुछ उसकी ग्रहण-शक्ति में आने लगा।

The Disciple Speaks

|| Dohā ||

bhavakhaṇḍana saṁśaya harana pranatapāla gurudeva;
aba ātama jānyaũ kachū pā̃ca tīna ko bheva. **40.**

Destroyer of worldliness and doubts, O Guru
Sustainer of the life of the humble;
now I understand the Self a little,
the riddle of the five and the three. **40.**

The disciple has a moment of lucidity in his understanding as the guru's description of the five elements, the three attributes, and reflection on those things which are the Self and those things which are not, reverberate deep within him. He realizes that his guru has clarified these topics so much that he has an innate understanding of them. He can now claim to know the nature of the five major elements and the three attributes.

ज्ञानाज्ञान समुझि पयौं तुम प्रसाद गुरुराज ।
और एक मोहि सन कहिय सकल लोक सिरताज ॥41॥

हे गुरु महाराज! आपकी अनुकम्पा से मुझे ज्ञान और अज्ञान का अंतर समझ में आ गया है। लेकिन हे संसार के सिरमौर गुरु, मुझे एक बात और बताइये ॥ **41** ॥

गुरु के इस ज्ञान-प्रसाद से शिष्य को यह समझ में आने लगा कि वास्तविक ज्ञान क्या है, और वह, जिसे अज्ञान कहा जाता है, उससे किस प्रकार भिन्न है। लेकिन यह तो केवल ज्ञान-प्राप्ति की आरम्भिक अवस्था है। अभी भी बहुत कुछ बाकी है जिसे जानना आवश्यक है। इसलिये शिष्य बहुत ही विनम्रता के साथ अपने गुरु से निवेदन करता है कि हे सम्पूर्ण विश्व में विराजने वाले सिरमौर, मेरी एक और जिज्ञासा है जिसका आप समाधान कीजिये।

jñānājñāna samujhi paryau tuma prasāda gururāja;
aura eka mohi sana kahiya sakala loka siratāja. **41***.*

Knowledge and ignorance I understood,
supreme Guru by your grace;
but do tell me one more thing,
O crown of the whole universe. **41**.

The disciple gets a glimpse also of what is true knowledge, and what is not, by the grace of his guru. But not everything has come together in his understanding in a comprehensive manner yet. There are still gaps in his knowledge that need to be filled in. So, he humbly asks his guru to allay one more curiosity that has emerged within him.

सत्यपुरुष को नाम अरु रूप सहित अस्थान।[8]
शक्ति संग अनुभव प्रगट आतम इंद्री जान ॥42॥[9]

उन सत्यपुरुष का वास्तविक नाम क्या है, उनका रूप कैसा है, वे कहाँ रहते हैं? उन्होंने कैसे शक्ति का साथ लेकर आत्मा और इंद्रिय-बद्ध शरीर के अनुभव की चेतना का सृजन किया? ॥ **42** ॥

शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि हे गुरुदेव, वह जिन्हें सत्यपुरुष कहा जाता है, उनका नाम क्या है? देखने, सुनने, पहचानने में उनका रूप कैसा है? वे कहाँ वास करते हैं, कहाँ उन्हें पाया जा सकता है। वह यह भी जानना चाहता है कि उन्हें अपनी इस रचनात्मक शक्ति का भान कैसे हुआ? इसके अतिरिक्त एक और बात अभी भी अस्पष्ट है। वह यह कि शक्ति का संग लेकर उन्होंने आत्मा और इंद्रिय, यानी सूक्ष्म आत्मिक जगत, और इंद्रियों पर आधारित स्थूल शरीर के जगत का अनुभव कैसे उत्पन्न किया?

इस दोहे के अंतिम चरण में 'आतम इंद्री जान' कहा गया है। सरल दिखते हुए भी यह वाक्यांश उतना सरल नहीं है। वह इसलिये क्योंकि 'आत्मा' तो बहुत ही सूक्ष्म मानी गई है, और उसे उस परमात्मा का अंश माना गया है जो अगोचर है। उसके विपरीत 'इंद्रिय' शब्द स्थूल ज्ञानेंद्रियों को इंगित करता है जिसके माध्यम से जीव इस सृष्टि का अनुभव पाते हैं। अंतिम शब्द 'जान' भी रोचक है। इसके कई अर्थ हो सकते हैं जैसे ज्ञानी (जो विज्ञ है, ज्ञान (जो जानने योग्य है), यान (आवागमन का साधन जैसे वायुयान), जीवन (जो जीव का अनुभव है), जानना (किसी बात का ज्ञान प्राप्त करना), और जाना (एक स्थान से दूसरे तक की यात्रा)।[10] व्याख्याता इन छ: में से जिस अर्थ का चुनाव करते हैं उसके आधार पर अंतिम पंक्ति के अर्थ में भिन्नता हो सकती है, जैसे कि उस सत्यपुरुष ने आत्मा और इंद्रिय का अनुभव कैसे उत्पन्न किया, या उस सत्यपुरुष का अपने बारे में ज्ञान उसकी स्वात्मा का अनुभव है, या कि यह अनुभव उसके स्व-ज्ञान का एक माध्यम है, या कि उसमें स्व-आत्मा और स्व-इंद्रिय के भेद का ज्ञान है, इत्यादि।

इसलिए इस दोहे की व्याख्या के लिये, जैसा कि बाबा कीनाराम ने दोहा संख्या 14 में कहा है – 'परम्परा की हेतु लै' – हम भी परम्परा के ही दृष्टिकोण से इसे देखने का प्रयत्न करते हैं। बाबा कीनाराम की परम्परा में वर्तमान काल में अघोरेश्वर महाप्रभु भगवान राम जी हुए हैं, जिन्होंने सन् 1992 में अपने शरीर का त्याग किया। वे अक्सर कहा करते थे कि औघड़ों की आत्मबुद्धि होती है, देहबुद्धि नहीं (राम 2015, 26 सं. 81)। देहबुद्धि से अर्थ यह हुआ कि संसार को केवल देह और इंद्रिय केंद्रित दृष्टिकोण से देखा जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि भौतिक जगत ही यथार्थ है, शेष सब कल्पना है। किंतु आत्मबुद्धि का अर्थ यह है कि जगत केवल उतना ही नहीं है जितना कि शरीरस्थ इंद्रियों द्वारा जाना जाता है, बल्कि आत्मा ही शरीर धारण करती है, और यह धारण किया हुआ शरीर उस आत्मा को ही सँजो कर रखता है। इसलिए जीव की वास्तविकता आत्मा है, और आत्मा से सम्बंधित सूक्ष्म जगत की सत्ता को ही सत्य माना जाना चाहिये। लेखक का विचार है कि इसी ज्ञान को बाबा कीनाराम इस दोहे की दूसरी पंक्ति में छिपाते हुए भी व्यक्त कर रहे हैं।

8 धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री लिखते हैं कि 'ब्रह्म' और 'आत्मा' शब्दों के प्रयोग के स्थान पर संतों ने 'पुरुष' और 'सत्पुरुष' का उपयोग किया है (शास्त्री 1959, 4)।

9 "आतम इंद्री" का उल्लेख तुलसी साहब हाथरसवाले (ई. 1767-1847) के पद में है – "आतम इंद्री बास फाँस बिच रहा फँसाई। अरे हाँ रे 'तुलसी' जड़ चेतन की गाँठ ठाठ मन जग उपजाई॥" (https://sufinama.org/arill/tulsi-saheb-hathras-wale-arill?lang=hi)। तुलसी साहब हाथरसवाले की तिथि बाबा कीनाराम से करीब सौ वर्ष बाद की है, लेकिन लगता है कि यह अभिव्यक्ति भी संत समाज में प्रचलित थी।

10 व्युत्पत्ति के आधार पर इस शब्द के अर्थों को जानने के लिये देखें Callewaert 2009, 726.

satyapuruśa ko nāma aru rūpa sahita asthāna;[15]
śakti saṅga anubhava pragaṭa ātama indrī jāna. **42**.

What is the name of the True Being,
What is its form, and where is its place;
How, together with its power it revealed
the consciousness of the Self and the senses. **42**.

The disciple asks the guru to tell him the name of that one True Being. He also wants to know what its form is like, and where is its abode. But the disciple is also very curious about how did that original being first experience its own creative power? As also, together with that creative power, how did it imagine the seemingly opposing ideas of the subtle world of the Self, and the sense dependent physical world of the body?

The last part of this couplet '*ātama indrī jāna*' is a little difficult to translate because, again, it can lend itself to various meanings. Individually, the word *ātam* is the colloquial version of the Sanskrit word '*Ātmā*', implying the Self in the body which is a part of the all-encompassing Supreme Self. *Indrī* is the colloquial form of the Sanskrit word '*indriya*', the sense or even, the senses. While '*Ātmā*' refers to the subtle, most imperceptible Self, '*indriya*' refers to the gross, physical sense organs. The third word in this phrase, '*jāna*', can have as many as six different meanings which include: one who knows; knowledge; vehicle; life; to know; and, to go.[16] Depending upon the meaning the translator adopts, the whole of the last line can mean that the True being created in the world the experience of the subtle Self, as well as that of the physical body, or that the True Being's experience of itself was an experience of the Self; or that this experience was a vehicle for Self-awareness; or its own awareness of the duality of the subtle Self and gross senses reflected in the world etc.

Therefore, for an exegesis of this verse, we will follow what Baba Kinaram has asked us to do in verse number 14 – "in keeping with the tradition" – we will focus on how the tradition looks at it. In recent times, Aghoreshwar Mahaprabhu Bhagawan Ram Ji of Baba Kinaram's tradition, who relinquished his body in 1992, used to often say that Aughars have a spirit or Self focused intellect, not a body focused intellect (Ram 2007, 86 no. 81). This implies that the world reality can be looked at in two ways. Using the body focused intellect one can determine that the world revealed only by the senses resident in the body is the true world, all else is mere imagination. But, from the Self or Spirit focused intellect, one is forced to acknowledge that the body is but a vehicle for the Spirit to be resident within. The body has importance because it can experience the world only when the Spirit is well maintained within it. So, the supremacy of the reality of the Spirit or the subtle world becomes paramount. The author is of the opinion that this is the gnosis Baba Kinaram is trying to impart in this verse, even though he obscures it somewhat so that the seekers come to this realization through their own deduction.

15 Dharmendra Brahmachari Shastri mentions that instead of using words like '*Brahman*' and '*Ātmā*' the Sants have preferred to use words like '*Puruṣa*' and '*Satpuruṣa*' (Shastri 1959, 4).

16 For the various etymons of this word see Callewaert 2009, 726.

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

गुरु शिष को आशीस करि बोले बचन बहोरि ।
श्रुति पुराण सब शास्त्र को संमत सार निचोरि ॥43॥

गुरु ने शिष्य को आशीर्वाद दिया और सभी शास्त्रों में जिस विचार पर सहमति है, उसे अपने शब्दों में समझाकर कहना आरम्भ किया ॥ **43** ॥

जिज्ञासु शिष्य द्वारा बारम्बार प्रश्न किये जाने से गुरु को क्षोभ नहीं हुआ, अपितु प्रसन्नता हुई। यह देखकर कि शिष्य सत्य ही जिज्ञासु है, उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया। चूँकि शिष्य का यह प्रश्न संसार की शाश्वत सत्ता, और उसके द्वारा रची गई सृष्टि से सम्बंधित है, उत्तर में वे प्रसन्नता से एक लम्बे आख्यान का आरम्भ करते हैं (जैसा कि पाठक देखेंगे) जिसमें वे सभी शास्त्रों, पुराणों, श्रुति, स्मृति इत्यादि का सार समन्वित कर प्रस्तुत करते हैं।

The Guru Speaks

|| Dohā ||

guru śiṣa ko āśīsa kari bole bacana bahori;
Śruti Purāṇa saba śāstra ko sammata sāra nicori.[17] **43.**

The Guru then blessed the disciple,
and spoke further on this discourse;
summing up the agreed view of the
Śrutis, *Purāṇas*, and all scriptures. **43.**

The guru is not displeased by this question of the disciple. In fact, he is pleased by it, for he blesses the disciple and then happily begins a lengthy discourse (as the readers will see) that explains the emergence of the creator as well as the created universe. In this exposition the guru brings together the common viewpoints shared by ancient scriptures and even the more recent *Purāṇa* literature.

17 Baba Kinaram does not oppose *Śruti, Purāṇa* and all the other scriptures in this verse. In fact he embraces them wholeheartedly because he has taken the essence of all of them in the *Viveksār*.

सत्य पुरुष को सत्य कहि सत्य नाम को लेखि ।
रूप रेख नहिं संभवै कहिये कहा विशेषि ॥44॥[11]

सत्यपुरुष को सत्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। उसका नाम भी बस, सत्य ही है। और विशेष क्या कहें, उसकी रूप-रेखा के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं ॥ **44** ॥

जैसा कि संत परम्परा में अक्सर कहा जाता है, शिष्य के पहले प्रश्न के उत्तर में गुरु सहजता से कहते हैं कि सत्यपुरुष को और किसी नाम से इंगित नहीं किया जा सकता है। वह बस, केवल, सत्यपुरुष ही हैं। यह एक इतनी सूक्ष्म सत्ता हैं कि किसी भी प्रकार से, शब्दों से या अन्य किसी विधि से, इनका वर्णन करना सम्भव नहीं है। उसके विषय में और विशेष क्या कहा जा सकता है जो ऐसा अगम, अगोचर हो?

11 तुलनीय – 'हरिऔध' 1996 प्रथम खंड - कर्त्ता निर्णय संख्या 8, "रेख रूप जेहि है नहीं अधर धरो नहीं देह। गगन मँडल के मध्य में रहता पुरुष बिदेह॥" नारायणदास 1989, 2 सर्वांग योग प्रदीपिका 47, अद्वैत योग चौपाई 40, "न तहा व्यापक व्याप्य विशेखा। न तहाँ रूप नहीं तहँ रेखा॥ न तहाँ ज्योति अजोति न कोई। ना तहाँ एक नहीं तहँ दोई॥" द्विवेदी 1978, 57 #13॥612; "बीज नहीं अंकूर नहीं। नहीं रूप रेष आकार नहीं॥ उदै अस्त तहां कथ्या न जाइ। तहां भरथरी रह्या समाइ॥", और 62 #24, "अंकुर बीरज नहीं आकार। रूप रेष न वो ऊंकार॥ उदै न अस्त आवै नहीं जाई। तहां भ्रथरी रह्या समाई॥" चर्चा के लिये देखें शास्त्री 1959, पहला अध्याय अध्याय, 1. ब्रह्म, ईश्वर, द्वैत, अद्वैत, 20।

satya puruṣa ko satya kahi satya nāma ko lekhi;
rūpa rekha nahĩ sambhavai kahiye kahā viśeṣi.[18] **44**.

The True Being can only be called the 'True',
its name inscribed only as the 'True';
shape and form it does not have,
What more can be said that is special. **44**.

The guru replies simply that the only way to refer to the True Being is to call it the True Being, and to call its name the True Name. Given its supremely subtle nature, it is not possible at all to describe its form or even its outline by either words or any other means. What more can be said about this being who remains so imperceptible.

18 Compare –
'Hariaudh' 1996, *Pratham Khaṇḍ-Kartā nirṇay*a, no. 8, "*rekh rūp jehi hai nahĩ adhar dharo nahĩ deh*| *gagan maṇḍal ke madhya mẽ rahatā puruṣ bideh*".
Narayandas 1989, 2. *Sarvāṅga Yog Pradīpikā*, 47, *Advait Yog*, *caupāī* 40, "*na tahā vyāpak vyāpya visekhā*| *na tahã rup nahĩ tahā rekhā*| *na tahã jyoti ajoti na koī*| *nā tahã ek nahĩ tahā doī*".
Dwivedi 1978, 57 सं. 13|612 "*bīj nahĩ aṅkur nahĩ, nahĩ rūp rekh ākār nahĩ*| *udai ast tahã kathyā na jāi, tahã bharatharī rahyā samāi*". Also, 62 no. 24, "*aṅkur bīraj nahĩ ākār, rūp rekh na vo ōkār*| *udai na ast āvai nahĩ jāī, tahã bhratharī rahyā samāī*".
For a discussion see Shastri 1959, *pahala adhyay* 20.

हंसा हंसा मध्य ही रूप रम्य अस्थान ।
ब्रह्मादिक को गमि नहीं क्योंकरि करिय बखान ॥45॥

वह हंस-रूपी सत्यपुरुष तो अपनी आत्मा के रमणीय स्थल में ही रमण करता है। उसे सृष्टि बनाने वाले ब्रह्मा इत्यादिक देवताओं की भी चिंता नहीं, उसका और क्या वर्णन किया जाए? ॥ **45** ॥

गुरु धाराप्रवाह कहते चले जाते हैं – हंस (उस सत्यपुरुष का प्रतीक) अपने आत्म में ही रमण करता है। वह अपने में ही तन्मय होता है, उसका अन्य कोई बाह्य या आंतरिक अवयव नहीं होता। वह 'आत्म' न केवल अपने को जानता है, बल्कि यह भी जानता है कि इस सृष्टि में जो कुछ भी है, वह उसी का अंश है। असल में, यह वह आत्म ही है जो पूरी सृष्टि में व्याप्त है। उस 'आत्म' का इस प्रकार अपने-आप में रमण करना एक बहुत ही सुरम्य स्थान भी है, और उसकी स्थायी स्थिति भी वही है। वह वैसा ही है। चूँकि वह 'आत्म' जानता है कि वही इस सृष्टि का सृजनकर्ता है, और वह पूरी सृष्टि में व्याप्त है, उसको अन्य किसी ब्रह्मा या सृष्टि की रचना करने वाले का भान भी नहीं है, क्योंकि केवल वही 'आत्म' है जो उपस्थित है। इसलिये किसी रचयिता ब्रह्मा का वर्णन करना, या स्वयं की स्थिति का वर्णन करना भी, सम्भव नहीं है। यह अनुभव की बात है, वर्णन करने की नहीं।

संत-परम्परा और साहित्य में 'हंस' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। यह शब्द भारतीय संस्कृति में सौंदर्य और विवेक का द्योतक है, लेकिन सामान्य प्रयोग में इसे उस पक्षी के नाम के रूप में लिया जाता है जो एक सुंदर सांस्कृतिक प्रतीक भी है। अपने सौंदर्य और विवेक के कारण हंस एक ऐसा प्रतीक है जिसके हिंदू अध्यात्म में कई अर्थ हैं (देखें Callewaert 2009, 2163)। यह अर्थ विवेचना करने वाले के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि वे आकाश से धरती की ओर देखने वाला एक विहंगम दृष्टिकोण अपनाते हैं, या धरती से आकाश की ओर देखने वाला बहुत ही यथार्थवादी दृष्टिकोण। इसलिये इस शब्द को बद्ध-जीव, मुक्त-जीव, आत्म-ज्ञान-प्राप्त आत्मा, अध्यात्म भाव में रमण करने वाले संत, या हंसः ध्वनि के साथ चलती श्वास-प्रश्वास के लिये भी, जैसा कि उपनिषदों और नाथ साहित्य में दृष्टिगोचर होता है (देखें Djurdjevic 2019, 56), प्रयोग किया जा सकता है। यहाँ हमने इस शब्द को उस परम् सत्य, सत्यपुरुष की आत्म-चेतना के रूप में माना है, जिसने कभी भी अपनी पारलौकिक अवस्था को विस्मृत न किया हो।

haṁsā haṁsā madhya hī rūpa ramya asthāna;
brahmādika ko gami nahĩ kyõkari kariya bakhāna. **45***.*

The highest Self is in its own Self,
a truly delightful place;
there is no thought of Brahma or other gods,
how to even describe this state. **45**.

The guru continues: the Self (*haṁsā*) of the True Being remains in its own Self, without any external and internal associations. That Self knows itself and realizes all that exists in the creation is but a part of it. In fact, it is the one that exists in all of creation. So much so that it realizes it is the one who is the driving engine for all creation. That, being within itself, is both a beautiful and charming place as well as a state for the Self. Since it realizes it is the creator of the universe, there is no consideration of an alternate Brahma (as an anthropomorphic God) who has created the world, only the Self is the one that exists. Therefore, even an attempt at describing an entity like the Brahma, or to describe this state, is futile. It is but a matter of experience, not description.

The word *haṁsā* is a very important one in the saint tradition and its literature. Most commonly, it is a bird, the swan. But the swan, because of its special beauty and nature that is considered wise, has several shades of meaning in Hindu spirituality (see Callewaert 2009, 2163). Depending upon one's point of view, top down or bottom up, it can refer to the soul, the embodied soul (as the *jīva* caught in the body), the liberated or enlightened soul, the saint immersed in God, or, the sound made by the in and out breath, as portrayed in the Nath literature (see Djurdjevic, Singh 2019, 56). We have chosen to interpret the word in this instance as the highest Self, the enlightened soul, which was never fettered, having never lost its identity as the Godhead.

चंद्र उदय नहिं सूर्यहु नहिं तहँ पवन उञ्चास ।[12]
धरनी नभ छाया तहाँ नहीं मेरु कैलास ॥46॥

वहाँ न चंद्रमा का उदय होता है न सूर्य का, न वहाँ उनचास प्रकार की वायु का ही वहन होता है। वहाँ न धरती है, न आकाश है, न सुमेरु पर्वत है, न कैलाश पर्वत है ॥ **46** ॥

यह अवस्था सृष्टि की रचना के पहले की है। इसलिये यहाँ न सूर्य का उदय होता है, और न चंद्रमा का। वेदों में जिस प्रकार 49 तरह के पवनों का उल्लेख है, उस तरह का पवन भी यहाँ नहीं है। सूर्य और चंद्र के अभाव में न कुछ गर्म होता है न ठंढा होता है, इसलिए वैसे पवन की गति का भी कोई प्रश्न नहीं है। वहाँ धरती भी नहीं है, और न आकाश का ही अस्तित्व है। जब सूर्य-चंद्र, धरती-नभ इत्यादि कुछ भी नहीं हैं तो वहाँ धूप या छाया का खेल भी नहीं होता है। चूँकि वहाँ धरती है ही नहीं, न वहाँ मेरु पर्वत है और न कैलाश पर्वत का ही कोई अस्तित्व है, जिनका हिंदू कथाओं में विपुल वर्णन है।

12 तु. "उदैन अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन।" (बड़थ्वाल 1960, 39, संख्या 111)
तु. "तब नहिं होते पवन न पानी। तब नहिं होती सिस्टि उपांनीं […]" (तिवारी 1961, द्वितीय खण्ड, 119. रमैनी 4)। कबीर की अन्य रचनाओं में भी सृष्टि-पूर्व की ऐसी परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है।
मरुतों का उल्लेख अथर्ववेद की ऋचा 2.12.6 में मिलता है –

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम्। तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥

अर्थात् "हे मरुत् नामवाले उनचास गणदेवताओ! जो हमारा शत्रु हमें दबा हुआ समझता है, और जो शत्रु हमारे किये हुए मंत्रसाध्य अनुष्ठान की निंदा करता है, इन दोनों प्रकार के शत्रुओं के लिये तापक तेज और आयुध बाधक हों तथा सूर्यदेव मेरे मंत्रात्मक कर्म से द्वेष करने वाले शत्रु को चारों ओर से संताप दें।" (शास्त्री 1959, 14)

पवन उनचास का एक उदाहरण रामचरितमानस, सुंदरकाण्ड 25 में भी है –
हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास। अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास ॥

Growse, *The Rāmāyana of Tulsi Dās*, 499 fn. 1. में लिखते हैं कि "जब इंद्र ने दिति के ज्येष्ठ पुत्रों, असुरों को जीत लिया, उनकी माता ने अपने पति मारीचि पुत्र कश्यप से इंद्र का हनन करने वाले पुत्र की माँग की। उनकी इच्छा पूरी हुई, लेकिन इंद्र ने अपने वज्र का प्रयोग कर उस पुत्र को गर्भ में ही 49 टुकड़ों में काट दिया। ऐसा होने पर वे क्रंदन करने लगे, और दयाकर इंद्र ने उनका मारुत, या पवन में रूपांतर कर दिया।"
इन 49 प्रकार के पवनों का सम्बंध संस्कृत वर्णमाला के 49 अक्षरों और उनकी ध्वनियों के साथ भी कहा जाता है। देखें, http://www.kriyayoga-shankarananda.com/SOUNDS.php.

candra udaya nahĩ sūryahū nahĩ tahã pavana uñcāsa;[19]
dharanī nabha chāyā tahã̃ nahĩ̃ meru kailāsa. **46.**

The moon and the sun do not rise here,
nor are there the forty-nine winds;
no earth, sky, sun or shade here–
nor the Meru or Kailas mountains. **46**.

That place, or even state, is beyond time and the normal cyclical rhythms of nature. Therefore, there is no sunrise or sunset at that place, nor moonrise or moonset. Since there is no weather which will be affected by the heat or the cold of the sun or the moon, there are no winds either. This reference to the 'winds' as *pavan* is a reference to the *Vedas* where forty-nine kinds of winds are mentioned in the creation, winds that gain their names according to the function they perform in the physical world. At that place there exists no earth, not even the sky, no shades (or light), nor the mountains Meru or Kailash which are so well known in Hindu mythology.

19 Comparable to – "*udaina ast rāti na din, sarabe sacarācar bhāva na bhin*|" (No sunrise or sunset, no night nor day, all that exists has no category difference) (Barthval 1960, 39 no. 111). Comparable to – "*tab nahĩ hote pavan na pānī*| *tab nahĩ hotī sisṭi upānĩ* [...] (At that time there was no wind nor water. At that time the creation was unmanifest.) (Tiwari 1961, 119 *Ramainī* 4). Such a pre-creation conception is evident in other verses attributed to Kabir.
The Maruts are mentioned in the *Atharvaveda* 2.12.6: "Whoso, O Maruts, thinks himself above us, or whoso shall revile our incantation [...] that is being performed – for him let his wrongdoings be burnings [...]; the sky shall concentrate its heat [...] upon the brāhman-hater" (Lanman 1905, 55). An example of the 49 winds is present in the *Rāmcaritmānas* also, *Sundarkāṇḍa* 25, "*hari prerit tehi avasar cale marut uncās*| *aṭṭahās kari garjā kapi baṛhi lāg akās*|" Growse throws further light on this, "After Diti's elder sons, the Asuras, had been subdued by Indra, their mother implored her husband Kasyapa, the son of Marichi, to bestow on her an Indra-destroying son. Her request was granted; but Indra with his weapon *vajra*, cut the child, with which she was pregnant, into forty-nine pieces, which commenced uttering grievous cries, till Indra in compassion transformed them into the Māruts, or Winds" (*The Rāmāyana of Tulsi Dās*, 499 fn. 1). Some also see a connection between these 49 winds and the 49 letters of the Sanskrit alphabet, as well as their 49 corresponding sounds. See `http://www.kriyayoga-shankarananda.com/SOUNDS.php`.

नहिं नक्षत्र नहिं दिवस निशि नहीं ज्ञान अज्ञान ।
पाप पुण्य एकौ नहीं तीरथ व्रत अरु दान ॥ 47 ॥[13]

वहाँ कोई नक्षत्र नहीं उगता है क्योंकि वहाँ दिन और रात नहीं होते, न वहाँ ज्ञान अथवा अज्ञान की ही कोई चेतना है। वहाँ न पाप है, न पुण्य है, न तीर्थ, अथवा व्रत या दान करने की आवश्यकता ॥ **47** ॥

वह एक ऐसा स्थान, या स्थिति है, जहाँ न कोई ग्रह-नक्षत्र हैं, न रात या दिन का ही आविर्भाव है क्योंकि सूर्य-चंद्र तो हैं ही नहीं। इन बाह्य, स्थूल वस्तुओं के अतिरिक्त सूक्ष्म अवयवों में वहाँ न तो ज्ञान की कोई स्थिति है, न वहाँ अज्ञान ही होता है। वहाँ न पाप की कोई परिकल्पना है, न पुण्य की। वहाँ न तीर्थाटन पर जाने की आवश्यकता है, न किसी प्रकार के व्रत करने की, न ही किसी को कुछ दान देने की।

इस प्रकार की अवयवहीन स्थिति, जो ब्रह्म का द्योतक है, हिंदू विचार की एक प्राचीन धारा है जिसे भगवद्गीता तक में पाया जा सकता है (देखें Djurdjovic 2019)। संत साहित्य, सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य और कबीर साहित्य में भी इसका उन्मुक्त उल्लेख है।

13 तु. "पेखमि दहदिह सव्वंइ शून, चिअ विहुन्ने पाप न पुन्न।" (चतुर्वेदी 1969, 161 संख्या 35-2)। "तु."दिष्टि आदिष्टं मंन न मुष्टं। पाप न पुनि जोति न सुन्यं।" (द्विवेदी 1978, 36 सं. 22 ॥403॥)।

nahĩ nakṣatra nahĩ divasa niśi nahĩ̃ jñāna ajñāna
pāpa puṇya ekau nahĩ̃ tīratha vrata aru dāna.[20] **47.**

No stars, nor day or night,
no knowledge or ignorance;
not the least virtue or sin,
charity, pilgrimage or penance. **47.**

Without the sun and the moon, of course there is no night or day at that place. Since the earth and the sky do not exist, naturally, there are no stars either. But all these are physical manifestations of the created universe. The subtle human ideas, those of virtue or sin, or of charity, or of performing either pilgrimage or penance, none of these exist at that place at all.

These ideas about the lack or transcendence of virtue and sin etc. are very old in Hinduism, going back at least to the *Bhagavadgītā* (see Djurdjovic 2019), and are quite liberally seen in the literature of the Siddhas, the Naths and amongst the followers of saint Kabirdas.

20 Comparable to – "*pekhami dahadih sarvvai śūn, cia vihunne pāp na punn*" (Everything in all directions is seen to be void, without the mind there is no sin nor virtue) (Chaturvedi 1969, 161 no. 35-2).
See also, "*diṣṭi ādiṣṭaṁ man na muṣṭaṁ| pāp na puni joti na sunyaṁ|*" (Nothing visible or invisible, no mind no body) (Dwivedi 1978, 36 no. 22).

सेव्य न सेवक सखा तहँ नहिं शुभ अशुभ प्रकार ।
अनल आपु त्रैगुण सहित नहिं एकौ विस्तार ॥48॥

यहाँ न कोई सेवा लेने वाला है न सेवा करने वाला, न यहाँ कुछ शुभ ही होता है अथवा अशुभ। यहाँ अग्नि, जल जैसे पंचमहाभूतों और त्रिगुणों का भी अभाव होने से किसी भी प्रकार का कोई सृजनात्मक विस्तार नहीं है ॥ **48** ॥

चूँकि वहाँ कोई मनुष्य नहीं है, न मनुष्य-जनित समाज की ही रचना हुई है, वहाँ न कोई सेवक होता है, न कोई ऐसा स्वामी जिसकी सेवा की जा सके। वहाँ न कोई मित्र है, न ही कोई शत्रु। नकारात्मक अथवा सकारात्मक भावनाओं या विचारों तक का कुछ भी आभास तक नहीं है। वहाँ बस उस सत्यपुरुष (परमेश्वर) की आत्म भावना है जिसमें अव्यक्त ऊर्जा और त्रिगुण समाये हुए हैं, किंतु उन में से किसी का भी लेश-मात्र भी विस्तार नहीं है क्योंकि विस्तार के लिए भी तो स्थान की परिकल्पना होती है, जो यहाँ बिल्कुल नहीं है।

sevya na sevaka sakhā tahã nahĩ śubha aśubha prakāra;
anala āpu traiguṇa sahita nahĩ ekau vistāra. **48***.*

There is no master, server or friend,
nothing auspicious or evil to state;
no elements or traits of creation,
there is nothing to proliferate. **48**.

Without the presence of human beings and their social constructions, there is no master, no servant, nor anyone to call a friend. There is not the least notion of negative or positive existence of any kind. There is no fire, no water, or the three attributes that exist in each one of the five great elements. In the absence of these great elements and traits, there is nothing that can either expand to spread over a large or small area, nor any kind of contraction.

वेद न बानी हित अहित वर्णाश्रम को धर्म ।
ब्रह्म जीव एकौ नहीं कया काल अरु कर्म ॥49॥

यहाँ न वेद हैं, न वाणी है, न हित है न अहित है, न किसी प्रकार का वर्णाश्रम धर्म ही है। यहाँ ब्रह्म और जीव की भी परिकल्पना नहीं, और न कोई क्षयमान् काया है, अथवा काल या कर्म ॥ **49** ॥

यह उस सत्यपुरुष की आदि अवस्था है जो वेदों से भी बहुत पहले की बीजभूत स्थिति है। चूँकि यहाँ वेद नहीं हैं, उनके विस्तार का साहित्य या जीवनोपयोगी उपदेश आदि कुछ भी नहीं हैं। यहाँ कोई है ही नहीं तो किसी का हित, अथवा अहित होने का भाव भी नहीं है। जब कोई प्राचीन साहित्य नहीं है, मानव समाज की व्यवस्था भी नहीं है, तो वर्णाश्रम या जाति प्रथा का भी अभाव है। जब वर्ण हैं ही नहीं, तो उनपर आधारित चार आश्रमों का जो विधान है, यथा ज्ञान प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य, परिवार और समाज के कल्याण के लिये गृहस्थ जीवन, फिर गृहस्थ जीवन से अलग होते हुए वानप्रस्थ की प्रक्रिया, और अंत में सभी दायित्वों से पृथक संन्यास, यह सब कुछ भी वहाँ नहीं है। न वहाँ यह भासता है कि किसी ब्रह्म की स्थिति है, या कि कोई अपने स्वरुप से अपरिचित जीव है। वहाँ कोई शरीरधारी जीव नहीं है, जीव न होने से जीवनयापन के लिये कर्म नहीं हैं, और इन दोनों के साथ-साथ काल का भी अभाव है जो शरीर और कर्म, दोनों पर अपना प्रभाव डालता है।

Veda na bānī hita ahita varṇāśrama ko dharma;
brahma jīva ekau nahĩ kayā kāla aru karma. **49.**

No sacred scriptures, good or evil,
No caste duties to perform;
There's no God or the sentient being
nor a body subject to time and acts. **49**.

This primordial state is such that even the *Vedas*, the sacred books of ancient India and their treatises on the virtues of life, do not exist. There is no notion of well-being or ill-being. There also do not exist the duties prescribed for a person according to their age and stage in life such as celibate study, conjugal life and duties, preparation for relinquishing all that is amassed for a life in the forest, and finally of renunciation, according to the caste to which a person belongs. There is no notion either of there being a God, or that there could even be an embodied soul. There exits no body, no time to rule over it, and no action that must be performed by anyone.

ब्रह्मा शेष प्रजंत ते निर्गुण सगुण विचार ।
मैं तू एकौ नहिं तहाँ जोग युक्ति व्यवहार ॥50॥

यहाँ न सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा हैं न उसे धारण करने वाले शेषनाग, न यहाँ निर्गुण या सगुण की ही कोई परिकल्पना है। मैं और तू जैसा कोई भाव नहीं है, न कोई ऐसा व्यवहार जो योग-युक्त हो ॥ **50** ॥

यह वह अवस्था है जब हिंदु त्रिदेवों में सृष्टि की रचना करनेवाले ब्रह्मा तक की उत्पत्ति नहीं हुई है। सृष्टि न होने के कारण उसे धारण करने के लिये शेषनाग की भी उपस्थिति नहीं है। न उनके पर्यंत किसी अन्य रचयिता अथवा धारण करने वाले की। अभी जब नाम, रूप, रस, गंध, श्रवण इत्यादि की सृष्टि है ही नहीं, तो यह विचार कि कुछ सगुण है या निर्गुण है, वह भी नहीं उत्पन्न हुआ है। यहाँ सत्यपुरुष का केवल आत्म भाव है, जो अविभाज्य है, और उसकी कोई रूप-रेखा नहीं है। अतएव, यहाँ 'मैं' और 'तू' का विभाजन भी नहीं है। जब कोई जीव और कोई स्रष्टा नहीं है, तो योग द्वारा उनसे एकात्म होने की परिकल्पना भी नहीं है।

Brahmā śeṣa prajaṅta te nirguṇa saguṇa vicāra;
maĩ tū ekau nahĩ tahã̃ joga yukti vyavahāra. **50**.

No expanse of Brahma's world or the great serpent,
nor thoughts of things 'with a form' or 'without';
the very conception of "I" and "you" is not there
and no need for comportment conducive to yoga. **50**.

Even the domain of the creator of the universe in the Hindu trinity, Brahma, does not exist at that place. There is no created universe at this time, nor is there any notion of the duality of the creator as a being with a definite form, or a formless being. It is unitary, indivisible and singularly non-dual because the duality of even I and You is not there. Since there are no two beings separate from each other, even the idea of their union, as is the goal in the practice of Yoga, does not exist.

नाम रूप एकौ नहीं नारि पुरुष लहि चीन्ह ।
लेख अलेख सुवेष में बास निरंतर कीन्ह ॥ 51॥

यहाँ नाम या रूप नहीं है, न नारी या पुरुष की पृथक कल्पना ही। ऐसे अलक्ष्य वेष में वह सत्यपुरुष बिना अवरोध वास करते रहे ॥ **51** ॥

उस सत्यपुरुष की वह आत्म-भाव की अवस्था, सभी इंद्रियों की ग्रहण शक्ति से परे, ऐसी थी कि वहाँ न कोई नाम था, न रूप था। वहाँ नारी या पुरुष जैसी किसी लिंग की भावना भी नहीं थी। ऐसी एक अगोचर, अनाम, अवर्णनीय स्थिति में, जो कि उनकी प्राकृत अवस्था है, उसमें वे निरंतर रमण करते रहे।

nāma rūpa ekau nahĩ nāri puruṣa lahi cīnha;
lekha alekha suvēṣa mẽ bāsa nirantara kīnha. **51**.

No trace of a name or form,
no male or female distinction;
the knowable stayed continually
in this unknowable fashion. **51**.

This state, beyond all sensory perceptions, where there exists no name, no form, no gender distinction, a state which is almost imperceptible, a state which is quite natural to it, is where that True Being remained in an uninterrupted manner.

कछुक दिवस ऐसो रह्यौ अबिनासी अवधूत ।
तेहि तें इच्छा प्रगट तब कीन्हों शब्द अभूत ॥ 52॥

उस अनश्वर अवधूत ने कुछ काल इसी अवस्था में व्यतीत किया। फिर निज इच्छा से उन्होंने एक अभूतपूर्व ध्वनि या शब्द की उत्पत्ति की ॥ **52** ॥

गुरु सत्यपुरुष का वर्णन आगे बढ़ाते हैं – वह अवधूत, जो अविनाशी थे, जिनका नाश नहीं हो सकता था, अपनी उस अलक्ष्य स्थिति में, जहाँ उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था, किसी भी प्रकार का कोई स्पंदन नहीं था, कुछ समय तक ऐसे ही रहे। तत्पश्चात् एक इच्छा का संचार, एक स्पन्दन उनमें हुआ। उस इच्छा का संचार होते ही उनमें से एक शब्द प्रस्फुरित हुआ। वह एक ऐसा शब्द, ऐसा नाद, ऐसी ध्वनि थी, जो पहले कभी नहीं हुई थी।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि बाबा कीनाराम उस सत्यपुरुष की इच्छा-विहीन, अलक्ष्य अवस्था को अवधूत की संज्ञा से अभिषिक्त करते हैं। शब्दकोष में अवधूत की परिभाषा ही एक अनासक्त वैरागी की है, एक ऐसा व्यक्ति जिसे संसार के प्रति लेश-मात्र भी लगाव या आकर्षण न हो। सामाजिक-धार्मिक दृष्टिकोण से देखें तो अघोर, नाथ एवं कई शाक्त सम्प्रदायों में साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए साधक या संत को अवधूत की उपाधि से सराहा जाता है।

kachuka divasa aiso rahyau abināsī avadhūta;
tehi tẽ icchā pragaṭa taba kīnhõ śabda abhūta. **52**.

For some days, in this manner,
stayed the immortal Avadhūta;
From that then emerged desire,
it made a sound never heard before. **52**.

The Guru continued his description: that immortal, indestructible True Being, an Avadhūta, remained in that condition of absolute imperceptible existence, without any kind of internal vibration, for some time. And then, of its own volition, the vibration of a desire emerged within it. As soon as that vibration emerged, there emanated a sound which had never been heard before.

It is notable that Baba Kinaram describes that desireless imperceptible condition of the True Being as that of an Avadhūta because the dictionary definition of an Avadhūta states such a person to be detached from the world, a person who has no worldly feelings or desires. In the Aghor, Nath, and several Shakta traditions, a saint who has attained the pinnacle of spiritual accomplishment is often referred to as an Avadhūta.

तामें तीनि पुरुष भये परम चतुर एक नारि ।[14]
नभ छिति पावक पवन जल रचना जगत विचारि ॥53॥

उस शब्द से तीन पुरुषों और एक सर्वकला विज्ञ नारी की उत्पत्ति हुई। उन्होंने पंचमहाभूतों – आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल से सृष्टि सृजन करने का विचार किया ॥ **53** ॥

गुरु के इस वर्णन से ज्ञात होता है कि सृष्टि रचना का प्रथम चरण, उस नाद के साथ, आरम्भ हो चुका है। उस प्राकृत शब्द, उस आदि नाद के स्पंदन में चार सर्वव्यापक सत्ताएँ आविर्भूत हुईं। इनमें तीन सत्ताएँ पुरुष लिंग की थीं, और एक सत्ता स्त्रीलिंग थी, एक ऐसी नारी जिसके ज्ञान और शक्ति की कोई सीमा नहीं थी। इन चारों ने मिलकर सृष्टि-रचना का अनुसंधान किया और उनके इस विमर्श से पंचमहाभूत – आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल – उत्पन्न हुए।

14 समझने के लिये देखें, द्विवेदी 1960, 55।

tāmẽ tīni puruṣa bhaye parama catura ek nāri;[21]
nabha chiti pāvaka pavana jala racanā jagata vicāri. **53**.

In it appeared three males,
and a supremely wise woman;
with sky, earth, fire, air and water –
they imagined the creation. **53**.

As that never before heard primordial sound reverberated, four beings emerged within it. Three of these beings were of the male gender, and one of them was a female, a woman who was unsurpassed in her wisdom. They envisioned how to create the world and their imagination led to the creation of the five major elements – the sky or ether, the earth, the fire, the air and the element of water.

21 For an explanation, see Dwivedi 1960, 55.

पुनि बिहँसत एक नारि भइ सुमन कमल निर्मान ।[15]
ब्रह्मा विष्णु महेश सुर भये सकल यह जान ॥ 54॥

तत्पश्चात् एक प्रसन्नवदना मुस्कुराती नारी का उदय हुआ जिससे कमल पुष्प का निर्माण हुआ। उस क्रिया की परिणति पर ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ ॥ **54** ॥

तत्पश्चात् एक मनोरम मनोभावों वाली हँसती-मुस्कुराती नारी का आविर्भाव हुआ। उसने एक बहुत ही सुंदर पुष्प, एक कमल, का निर्माण किया। इस कमल का निर्माण होने के बाद तब त्रिदेवों – ब्रह्मा, विष्णु, और शिव – का आविर्भाव हुआ।

यहाँ 'सुमन कमल' के संदर्भ में ज्ञात होता है कि बाबा कीनाराम ने उस सूक्ष्म शरीर का उल्लेख किया है जिसके बारे में तांत्रिक परम्पराओं में बहुत कुछ जानने-सुनने को मिलता है। हालाँकि, यदि हम केवल 'सुमन' शब्द को देखें तो उसके दो अर्थ सहजता से निकल आते हैं – पहला तो पुष्प, और दूसरा, एक सुंदर मन – दोनों ही स्वीकार्य हैं। किंतु सुमन का कमल शब्द के साथ योग शाब्दिक अर्थ से परे कुछ और इंगित करता है जिसको हम सूक्ष्म शरीर का इंगित-मात्र मान सकते हैं जैसा कि नाथ सहित्य में दृष्टिगोचर होता है।। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस वर्णन के क्रम में इस 'सुमन कमल' का निर्माण करने वाली उस हँसती हुई सुंदर नारी के आविर्भाव के बाद ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव का उद्भव होता है। इस संदर्भ में हनुमानदासजी षट्शास्त्री द्वारा प्रकाशित कबीर बीजक की रमैनी संख्या 1 रोचक है, जिसके अनुसार इस नारी का नाम गायत्री है और इन के तीन पुत्र हुए जिनके नाम ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर थे।[16]

15 सुमन कमल का इंगित तंत्रोक्त देहस्थ चक्र. भी संभव है। देखें सु. मिश्र 2004, 175; एवं क. सिंह, 2010, 156 सं. 4।

16 षट्शास्त्री, बीजक, 87 रमैनी 1 – "इच्छा रूप नारी अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी ॥ तिहि नारि के पुत्र तिन भाऊ। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊँ।"

puni bihãsata eka nāri bhaï sumana kamala nirmāna;
Brahmā Viṣṇu Mahēśa sura bhaye sakala yaha jāna.[22] **54**.

Then there appeared a smiling woman
and created the charming flower of lotus;
Brahma-Vishnu-Shiva and the demigods,
They all appeared with this knowledge. **54**.

Then emerged a beautiful woman of a pleasing demeanor and full of smiles, and she created a beautiful mind and a beautiful lotus. And then the demigods Brahma, Vishnu and Shiva also came into being.

The reference to the creation of a lotus here seems to indicate the lotus body that is talked about in the tantric traditions. In common parlance the meaning of the word '*suman*' is a flower. But it is also sometimes equated with a beautiful heart or mind. I have chosen to translate this word as a beautiful mind, as it can equally well refer to a beautiful heart. In both situations it still seems to refer to the subtle body as imagined in the tantric traditions and the Nath literature. The emergence of the Gods Brahma, Vishnu and Shiva *after* the emergence of this beautiful woman full of laughter is also interesting. In Hanumanprasadji Shatshastri's *Bijak* of Kabir, it actually states that the lady had three sons named Brahma, Vishnu and Maheshvar.[23]

22 "*Suman-kamal*" – can refer to the sacred body and its *cakras* in Tantra. See S. Mishra 2004, 175. Also, Singh 2010, 156 no. 4.

23 Das 1964, *Bijak*, *Ramaini* 1 – "*icchā rūp nārī avatarī, tāsu nām gāyatrī dharī. tihi nāri ke putra tin bhāū, brahmā Viṣṇu maheśvar nāū̃*" (With its desire it created a woman and named her Gayatri. That woman had three sons whose names were Brahma, Vishnu and Maheshvar).

निज इच्छा तेहि देइ करि आपु आपु महँ होइ ।
रमत दिगंबर भेष में सदा निरंतर सोइ ॥55॥

इन सभी नारी और पुरुषों (देवी-देवताओं) को अपनी इच्छा बताकर वह सत्यपुरुष पुन: अपने आप में ही विलीन हो गए। और इस प्रकार, वस्त्र-रहित, आकाश का आवरण ओढ़े, वे अनवरत रमण करते रहते हैं ॥ **55** ॥

उस सत्यपुरुष ने फिर अपनी इच्छा से उन सबको अवगत कराया। अपनी इच्छा-शक्ति उनको देकर वह पुन: अपने अनाम, अरूप, अलक्ष्य रूप में चले गए, जैसी कि उनकी इच्छा के कारण हुए उस शब्द, उस नाद के स्फुरण होने से पहले की अवस्था थी। और इस तरह, पारदर्शी आकाश की तरह के अपने प्राकृतिक वेश में, जो दिगम्बरावस्था ही कही जाएगी, वे हमेशा विद्यमान रहते हैं।

nija icchā tehi dei kari āpu āpu mahã hoi;
ramata digambara bheṣa mẽ sadā nirantara soi. **55**.

Entrusting its desire to them,
it went within itself as well;
clad in nothing but the sky-apparel,
that's how it eternally dwells. **55**.

That True Being, then, communicated with these Gods that had emerged. It told them its desire, and then reverted to its original, eternal, imperceptible state from which the primordial sound had emerged owing to its desire. And so, that is how it remains forever, clad in nothing but the emptiness of the sky.

प्रथम शक्ति जो प्रनव महँ भई कहों शिष तोहि ।
वेद मातु ता कहिय नित इच्छा संग सोहि ॥56॥

हे शिष्य, अब तुम्हें उस शक्ति के विषय में बताता हूँ जिनका उद्भव प्रणव में हुआ था। वेद उनको सदा माता के नाम से सम्बोधित करते हैं, और वह माता अपनी स्वयं की इच्छा की स्वामिनी हैं ॥ **56** ॥

गुरु शिष्य को समझाकर बताते हैं कि उस प्रथम शब्द, उस प्राकृत नाद के स्पंदन से, जिसे प्रणव भी कहा जाता है, जिस नारी शक्ति का उद्भव हुआ था उन्हें वेद तक बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। वे उनको 'माता' कह-कर सम्बोधन करते हैं। जैसा कि उन सत्यपुरुष की इच्छा थी, यह मातृ-शक्ति स्वयं की संकल्प और इच्छा शक्ति से सम्पूर्ण हैं ताकि वे आदि-स्पंदन में हुई सृष्टि रचना के कार्य को सम्पन्न कर सकें।

यहाँ प्रणव शब्द पर हल्का सा प्रकाश डाल देते हैं। हिंदू आध्यात्मिक विचार में यह सृष्टि प्रणव से ही उद्भूत है। वास्तव में प्रणव की ध्वनि 'ॐ'कार (ऊङ्कार) है। इसे इस प्रकार भी लिख सकते हैं – 'अउम्'। आर-म्भ में प्रणव की ध्वनि 'अ'कार की होती है जो आत्मतत्त्व का प्रतीक मानी जाती है।, मध्य में 'उ'कार की ध्वनि होती है जिसे विद्यातत्त्व का प्रतीक माना जाता है और जिसमें सदाशिव तत्त्व की उपस्थिति कही जाती है। यह विद्यातत्त्व इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का समन्वयन करता है। और अंत में 'म'कार की ध्वनि होती है जिसे शिवतत्त्व का प्रतीक माना जाता है। अंत की 'म' ध्वनि के अतिरिक्त प्रणव में बिंदु और नाद भी आते हैं। बिंदु 'ॐ' अक्षर के चंद्रबिंदु में स्थित बिंदु है जो शिव-शक्ति के सामंजस्य का प्रतीक है क्योंकि इस चंद्र-बिंदु का अर्धचंद्र योनि का प्रतीक माना जाता है (प. मिश्र 2004, iv-vi)। नाद शब्द के उच्चारण का आदि स्थान होता है (प. मिश्र 2004, 60)। प्रणव ही प्रमुख बीज-मंत्र माना जाता है क्योंकि अन्य सभी मंत्रों की उत्पत्ति इसी से विहित है, इसीलिये इसका उच्चारण महत्त्वपूर्ण है।[17] इसी में वह सृजनात्मक शक्ति निहित है जिसके कारण इसे वेद भी माता कहते हैं।

प्रणव की महत्ता का एक उदाहरण स्वच्छंदतंत्रम् की टीका से उद्धृत है –

प्रणव की चतुष्कलता शास्त्र द्वारा प्रतिपादित और प्रमाणित है। वस्तविकता यह है कि, स्वयं वर्ण अपनी इकाई में ही पूर्ण सक्षम होते हैं। जब वे पिण्डाक्षर के रूप में संपृक्त होते हैं, तो उनकी शक्ति घनीभूत होकर सूर्य की तरह प्रकाश पुंज की प्रतीक बन जाती है। प्रणव भी एक ऐसा ही शक्ति-पुंजात्मक पिण्डाक्षर है। इसे शास्त्र में चतुष्कल कहते हैं। इनकी महाव्याप्ति में विश्व समाहित हो जाता है। (मिश्र 2002, 200)

17 "ओङ्कार के पाँच स्तरीय प्रस्तार प्रसिद्ध हैं – 1. ह्रस्व 'अकार', 2. दीर्घ 'उकार', 3. प्लुत 'मकार', 4. सूक्ष्म बिंदु, 5. अतिसूक्ष्म नाद (प. मिश्र 2004, 58)।

prathama śakti jo pranava mahã bhaï kahõ śiṣa tohi;
Veda mātu tā kahiya nita icchā saṅga sohi. **56.**

The first, female-power, that came from the Pranava,
I tell you O disciple;
the *Vedas* always call Her the 'Mother',
endowed with Her own will. **56**.

The Guru points out to the disciple here that the first female power that had emerged from the primordial sound vibration of the *Praṇava* (the sound that had never been heard before), is extolled even by the *Vedas*. The *Vedas* refer to her as the Mother, the female power of the universe, who has the power of her own will, as willed by the True Being, to facilitate the function of the creation that had emerged in its original vibration of desire.

Let us briefly look at the concept of *Praṇava*. In Hindu spiritual thought, the creation has emerged from the sacred word that is *Praṇava* or 'OM'. It can also be written as 'Aum'. The first sound while pronouncing this word is the sound 'A', which represents the Self-entity of the cosmic and the sentient being. In the middle it is the 'U' sound that is pronounced which is regarded as a representation of knowledge, and where the Lord Sadashiva (a form of Shiva) also remains present. This element of knowledge harmonizes the powers of will, knowledge and action. Towards the end the 'M' sound is pronounced, which represents the Shiva element. There is also the *bindu* in the sound of 'AUM' as written in the Sanskrit and Hindi Devanagari alphabet, which appears as a dot atop the half-moon character of the semi-nasal *anunāsik* sound. This dot or *bindu* represents the union of the male and female principles, Shiva and Shakti respectively because the half-moon of the nasal sound is regarded as a representation of the feminine vulva (P. Mishra 2004, iv-vi). The last element in the pronunciation of the 'AUM' *Praṇava* is the *nād*, which is the place from where any sound is pronounced (P. Mishra 2004, 58-60). The *Praṇava* is regarded as the primary seed mantra (single syllable mantra) because all the other mantras emanate from it. Therefore, its right pronunciation is important.[24] It is in this *Praṇava* that the aforementioned creative power resides, because of which the *Vedas* call it the 'Mother'.

To illustrate the importance of *Praṇava*, here is a translation from the commentary of the *Svacchandatantram*:

> The four aspects of power inherent in the *Praṇava* are attested to, and propounded by, the scriptures. The reality is that the letters (*varṇas*) are fully potent in their solitariness. When they become combined as seed-letters, then their power becomes concentrated and becomes like a beacon of light as the sun. *Praṇava* is such a power-packed light emitting seed mantra. It is referred to in the scriptures as *catuṣkala* (having four aspects). The world is contained in its vastness. (P. Mishra 2002, 200)

24 The process of pronunciation of the 'AUM' sound is as follows: 1. short 'A' sound, 2. Long 'U' sound, 3. Protracted 'M' sound, 4. Subtle *bindu* nasal sound, and 5. Extremely subtle *nāda* sound (P. Mishra 2004, 58).

इच्छा क्रिया शक्ति संग शोभित भये अनंत ।
पाँच तत्त्व गुण तीनि लै कयौं जगत को तंत ॥57॥

वह अनंत सत्यपुरुष अपनी इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति, दोनों का सान्निध्य पा और आकर्षक लगने लगे। उन्होंने पंच महाभूत (पाँच तत्त्व) और तीन गुणों को लेकर जगत की रचना की ॥ **57** ॥

वह सत्यपुरुष जो अपनी प्रकृति से ही अनंत और असीम हैं, अब इच्छा और क्रिया शक्तियों से संपुट हो गए। पहले वे जिस अंतर्मुखी भाव में थे, उससे भिन्न अब वे बहिर्मुखी क्रिया-कलाप की ओर उन्मुख हुए। अब सृजन करने का समय था तो उन्होंने पंचमहाभूतों – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वों – के साथ त्रिगुणों (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) का सम्मिश्रण किया और पूरी सृष्टि का ताना-बाना बुन दिया।

icchā kriyā śakti saṅga śobhita bhaye ananta;
pẽca tattva guṇa tīni lai karyau jagata ko tanta. **57.**

Adorned with the power of desire and action,
The infinite presided in all its splendor;
taking five elements and three attributes,
it made the weft and the weave of the world. **57.**

The True Being who is infinite and endless by its very nature, now became adorned with the two attributes of desire as well as action, the ability to do things, to make things happen. With these two attributes it took the five major elements of earth, water, fire, air and the sky, as well as the three attributes (*satoguṇa*, *rajoguṇa* and *tamoguṇa*) and wove the fabric of the world.

प्रनव आदि मर्जाद करि नाम रुप सब कीन्ह ।
ब्रह्मा विष्णु महेश कहँ जग पालन कहि दीन्ह ॥ 58॥

उन्होंने आदि-स्फोट प्रणव आदि की उचित मर्यादा स्थापित कर जगत में असंख्य नाम एवं रूपों की रचना की। फिर उन्होंने जगत के दैनंदिन पालन-पोषण का कार्य ब्रह्मा, विष्णु और महेश को सौंप दिया ॥ **58** ॥

तब उन सत्यपुरुष ने जो प्रथम शब्द, प्रथम स्पंदन, प्रथम स्फुरण हुआ था, जिसे 'प्रणव' कहते हैं, उसकी मर्यादा को स्थापित किया। बाबा कीनाराम ने इस दोहे की रचना इस विधि से की है कि अब हम इससे दो प्रकार के अर्थ निकाल सकते हैं। पहला तो यह, कि उसके बाद उन सत्यपुरुष ने सृष्टि में उपस्थित सभी नाम और रूपों की रचना की। या हम ऐसा भी कह सकते हैं कि उन्होंने उस प्रणव को ही सभी नाम और रूपों की आधारशिला बना दिया जिससे यह दृष्टिगत सृष्टि एक स्फुरित स्पंदन पर आधारित सृष्टि कही जा सकती है। एक बार सृष्टि का उदय हो गया तब फिर उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर शिव को जगत का पालन-पोषण करने का काम सौंप दिया।

pranava ādi marjāda kari nāma rūpa saba kīnha;
Brahmā Viṣṇu Maheṣa kahã jaga pālana kahi dīnha. **58.**

Honoring the spontaneous primordial sound
It created all the names and the forms;
Then it told Brahma, Vishnu and Mahesha,
to take good care of the world. **58**.

The True Being then established the importance of the first primordial sound (*Praṇava*) that had emanated with its desire. Here the translation becomes a matter of interpretation. The True Being then created all the names and forms that exist in the cosmos. Or, we can also imagine, it made the *Praṇava* the foundational basis of all names and forms that emerged in the creation, thus establishing a cosmos based on sonic vibrations. Once this creation came into being, it asked the three Gods that had emerged earlier, Brahma, Vishnu and Shiva, to nurture it, to look after it.

कबहूँ रजहिं प्रकाश करि कबहूँ तम महँ जाइ ।
कबहुंक पालै सत्य कह नाम अनंत कहाइ ॥59॥

उन त्रिदेव की व्यवस्था में कभी संसार में रजोगुण का प्रकाश फैल जाता है, कभी सृष्टि तमोगुण से आच्छादित हो जाती है। कभी वे सतोगुण का आश्रय ले संसार का पालन करते हैं, और इन सब के पार्श्व में उन्हीं अनंत के नाम का अस्तित्व होता है ॥ **59** ॥

और इस प्रकार जगत का खेल प्रारम्भ हुआ। यह खेल पंचमहाभूतों की विशिष्ट प्रकृतियों और त्रिगुणों के विशिष्ट चरित्रों के असंख्य विधि से मिलने-जुलने, जुड़ने-टूटने आदि से अनवरत चलने लगा। रजोगुण में ताप, और उससे उत्पन्न प्रकाश होता है। यह क्रिया और भोग की ओर भी प्रेरित करती है। तमोगुण में क्रोध, आलस्य इत्यादि की प्रचुरता होती है, इसे अंधकारमय भी माना जाता है। सतोगुण उत्तम प्रकृति का द्योतक माना जाता है। इसे सत्य, धीरता, शांति इत्यादि का प्रतीक माना जाता है। जैसा कि उन सत्यपुरुष की इच्छा थी, त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और शिव इसका संचालन करने लगे। कभी जब रजोगुण प्रबल हो जाता है तो उसका ताप एक प्रकार का प्रकाश इस जगत में विसर्जित करता है। कभी जब तमोगुण प्रबल हो जाता है तो जगत में अंधकार भी छा जाता है। कभी, जब सतोगुण प्रबल होता है तो वह अपनी तरह से जगत का पालन करता है। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक गुणों का यह खेल जगत के मंच पर अनवरत चलता रहता है, और इस खेल के सूत्रधार, उन सत्यपुरुष को, अनंत कहा जाता है।

kabahũ rajahĩ prakāśa kari kabahũ tama mahã jāi;
kabahũka pālai satya kaha nāma ananta kahāi. **59.**

At times passion brings light (to the world),
at times the world goes into darkness;
At times they nourish with purity and goodness,
the name of this player is 'the Timeless'. **59**.

And thus began the play of the world. The play is created by the nature of the five major elements and the three primary traits of *satoguṇa* (purity, goodness), *rajoguṇa* (passion, emotion), and *tamoguṇa* (darkness, heaviness) – *sat*, *raj*, *tam* in short (see verse 10 above). As per the desire of the True Being, and as executed by the three Gods Brahma, Vishnu and Shiva, the creation sometimes experiences the light created by the passion of the *rajoguṇa*, and at other times it goes into darkness as the *tamoguṇa* becomes more dominant. In other instances, the Gods take care of the world making *satoguṇa* the dominant character trait of the creation. This play of purity and passion and heaviness continues in a timeless manner, and the player behind this theater, the True Being, is also referred to as "the Timeless" one.

रुद्र होइ जग को करै कबहुँ कबहुँ संहार ।
माया अलख अनंत कहि निगम पुराण विचार ॥60॥

कभी-कभी रुद्र के रूप में वे जग का संहार भी कर देते हैं। सभी शास्त्र और पुराणों में सम्मति है कि उस अनंत की माया अलक्ष्य है ॥ **60** ॥

इस कोलाहलपूर्ण, निरंतर परिवर्तनशील सृष्टि के मंच पर कभी-कभी जगत का संहार भी हो जाता है, जब शिव अपना कल्याणमय स्वरूप त्यागकर रौद्र रूप धारण कर लेते हैं, और जीर्ण-शीर्ण हो चुके चरमराते जगत को उसकी व्यथा से मुक्त कर देते हैं। जब सृष्टि का यह एक चक्र समाप्त हो जाता है तो फिर यह रचना दोबारा शुरू हो जाती है, और इस प्रकार यह क्रीड़ा अनंत काल तक चलती रहती है। यही कारण है कि वेद, पुराण और अन्य शास्त्र कहते हैं कि उस अलक्ष्य सत्यपुरुष की माया का विस्तार अनंत है, उससे कोई निस्तार नहीं है, उसकी थाह पाना असम्भव है।

rudra hoi jaga ko karai kabahũ kabahũ saṁhāra;
māyā alakha ananta kahi Nigama Purāṇa vicāra. **60**.

As the fierce Rudra sometimes
It does destroy the universe;
the unknowable's art is endless,
Concur the *Vedas* and the *Purāṇas*. **60**.

In this tumultuous, ever-changing scene of the theater, sometimes the universe also gets destroyed as nurturing Shiva takes on the fierce form of Rudra to bring the old and decrepit created universe to its culmination. Once that round of the play of creation is destroyed, it all begins again in a never-ending cycle. It is for this reason that the various scriptures such as the *Vedas* and the *Purāṇas* have mentioned that the web of illusion or *Maya* created by the imperceptible True Being is infinite, it cannot be gauged.

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

मैं जान्यौं सतगुरु कृपा सकल जगत व्यवहार ।
आपा आपु विचारिये सत्य नाम करतार ॥61॥

अब अपने सतगुरु की कृपा से मैं इस समस्त सृष्टि की कार्यशैली से परिचित हो गया हूँ। यहाँ अपने आप को, तथा उस सृष्टि-निर्माता के सत्य नाम को अपने आप में ही गुनना श्रेयस्कर है ॥ **61** ॥

गुरु मुख से सृष्टि के निर्माण और उसकी संरचना विहित व्यवहार का विस्तारपूर्वक व्याख्यान सुनने के बाद शिष्य अब कुछ ज्ञान-प्रकाश अनुभव करता है। वह गुरु को जगत-व्यवहार के रहस्यों से अवगत कराने के लिये कृतज्ञता व्यक्त करता है। उसको अब यह भी अनुमान हो गया है कि यदि उस सत्यपुरुष को जानना है, उसका अनुभव पाना है, तो वह अपने अंतरतम में ही पाया जा सकता है, अन्यत्र नहीं। इसके लिये अपने 'स्व' अथवा 'आत्म', जिसे 'स्वात्मा' कहा जा सकता है, उस पर विचार करना, और साथ ही उस विश्वरचयिता के नाम का भी ध्यान करना आवश्यक है।

The Disciple Speaks

|| Dohā ||

maĩ jānyaũ sataguru kṛpā sakala jagata vyavahāra;
āpā āpu vicāriye satya nāma karatāra. **61**.

True Guru's grace led me to realize
The working of the whole world;
reflect within on your own-Self –
and on the true name of God. **61**.

Having heard this long discourse on the nature of the creation and function of the whole universe, the disciple now feels sufficiently illuminated. He thanks the Guru for having revealed to him how this created world works. In the process of gaining this understanding, he has also understood that it is only within one's own Self that one can experience the True Being. The act that can lead to such a discovery will be the reflection on the Self, and the truth inherent in the name of the creator of this universe.

कहा कहिय समुझिय कहा का करि करिय विचार ।
नहिं एको समुझत परै श्री गुरु ज्ञान अगार ॥ 62 ॥

क्या कहा जाय, क्या समझा जाय, किस वस्तु पर विचार किया जाय? हे गुरुदेव आप तो ज्ञान के सागर हैं, मेरी सहायता करें क्योंकि कुछ भी मेरी बुद्धि में समाता नहीं है ॥ **62** ॥

किंतु शिष्य के लिये अभी तक यह एक अनुमान ही है। गुरु का व्याख्यान सुनकर वह कुछ असमंजस में भी पड़ जाता है। यदि यह पूरा विश्वप्रपंच मात्र पंचभूतों और त्रिगुणों का ही मायाजाल है तो इसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय, या इसके पार कैसे जाया जाय, इसको सोचने में बुद्धि जवाब दे जाती है। उसमें अपने अस्तित्व और अस्मिता के विषय में भी अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है, कि फिर इस जीवन का प्रयोजन अंतत: क्या है? बिना अपने गुरु से कुछ भी छिपाए, वह अपनी व्यथा को उनसे व्यक्त कर देता है।

kahā kahiya samujhiya kahā kā kari kariya vicara;
nahĩ eko samujhata parai śrī guru gyāna agāra. **62**.

What to say, what to understand,
And what to think about;
none of this I can figure out, Guru
You are wisdom's treasure-house. **62**.

But clearly, this experience has been rather destabilizing for the disciple. He feels overwhelmed. Realizing that all this created universe is a play of the five and the three, he cannot figure out what more to think or say about the world. It is also an existential dilemma for him about how to exist in this world, and what to do with the life that has been bequeathed to him. He tells this to his Guru without hiding his emotions.

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

साँच कहिय साँचो सुनिय साँचो करिय विचार ।
साँच समान न और कछु साँचो संग सम्हार ॥63॥

सत्य कहो, सत्य सुनो, सत्य पर ही विचार स्थिर रखो। सत्य के जैसा इस जगत में और कुछ नहीं है, सत्य की ही संगति को सम्हालकर रखे रहो ॥ **63** ॥

गुरु तो शिष्य पर अनुग्रह करते ही हैं। वे शिष्य की मनोव्यथा देखकर उससे इस पूरे व्याख्यान के केंद्रीय तत्त्व का उद्बोधन करते हैं। उसके लिये एक ही शब्द पर्याप्त है – सत्य। वे सहजता से कहते हैं कि हे शिष्य, तुम सत्य बोलो, सत्य सुनो, और सत्य का ही विचार करो। क्षण-क्षण बदलते इस नश्वर संसार में सत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसी सत्य का अनुसंधान करो, उसी सत्य का संग करने में बिल्कुल न चूको। इसी सत्य का साथ जीवन का उत्कृष्ट लक्ष्य भी होता है।

The Guru Speaks

|| Dohā ||

Sẽca kahiya sẽco suniya sẽco kariya vicāra;
Sẽca samāna na aura kachu sẽco saṅga samhāra. **63.**

Speak the Truth, listen to the Truth,
contemplate upon the truth;
there's nothing that compares to the Truth,
keep well the company of Truth. **63**.

The Guru is gracious in his reply. He goes to the core of the matter and advises the disciple to focus on the one thing that is worthwhile in this world – the Truth – with the capital T. And so, he says quite simply, speak the truth, listen only to the truth, and reflect only upon the nature of the Truth. There is nothing else that is worthwhile in this ever-changing world. Therefore, making every effort to keep the company of the Truth is what the disciple's goal in life should be.

माया अगम अनंत की पार न पावै कोइ ।
जो जानै जाके कछू काया परिचय होइ ॥ 64 ॥[18]

उस अनंत की माया-रचना का विस्तार ऐसा नहीं है कि कोई उसके पार जा सके। केवल वही इस मार्ग को जानने में सफल होता है जिसको कि काया के ज्ञान से परिचय हो ॥ **64** ॥

गुरु का वाणी-प्रवाह थमता नहीं है। वे आगे कहते हैं कि उस अलक्ष्य द्वारा विस्तार पाई हुई इस माया का जाल दुष्कर है। इसके पार बिना मार्गदर्शन के जाना एक ऐसा कार्य है जो आसानी से नहीं हो सकता है। किंतु यह भी है कि यह लक्ष्य दुर्गम है, अगम नहीं। एक मार्ग है जिसका अनुसरण करने से इस भवसागर के पार उतरा जा सकता है। वह है, अपनी ही काया का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना – न केवल स्थूल शारीरिक ज्ञान – अपितु इस शरीर की आध्यात्मिक संरचना के बारे में भी पूरी तरह से जानना।

इस दोहे के माध्यम से बाबा कीनाराम अपने पाठकों को 'योग और सूक्ष्म शरीर' के बारे में संकेत देते हैं। भारतीय अध्यात्म में योग द्वारा शरीर को प्रशिक्षित कर ज्ञान प्राप्त करने का विधान एक मुख्य मार्ग है। माना जाता है कि इसके द्वारा संसार सागर की माया से ऊपर उठा जा सकता है।

18 तु. बड़थ्वाल 1960, 164, 2 - "पाप पुंन करम का बासा । मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा । जोग जुक्त जब पाओ ग्यान । काया षोजौ पद नृबाना ॥"

māyā agama ananta kī pāra na pāvai koi;
jo jānai jāke kachū kāyā paricaya hoi.[25] **64**.

Unfathomable is the art of The Limitless,
no one can go across;
known it is by those familiar with
a little of how the body works. **64**.

The Guru continues: the art, or the web of illusion created by the imperceptible, limitless one is truly formidable, it is not possible for anyone to go across it in a willy-nilly manner. However, there is a way to go across it. That is because one who has some understanding of how the (spiritual) things work in the body, can gain insight into how to traverse this web of illusion.

Here, Baba Kinaram has brought readers to the element of Yoga, the knowledge and training of the body for spiritual enlightenment, which can be an instrument to traverse the wilderness of the world.

25 Comparable to, Barthval 1960, 164, 2: "*pāp punn karam kā bāsā, mokh mukti cetahu hari pāsā. jog jukt jab pāo gyānā, kāyā khojau pad nṛbāna*" (Sin and virtue are a matter of actions, salvation is God's domain. By knowledge gained through yoga, find salvation within the body).

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

अमित प्रकाशत जगत गुरु मम गुरु दीन दयाल ।
काया परिचय जो कह्यौ सो क्यों होइ कृपाल ॥65॥

हे मेरे दीन-दुखियों पर दया करने वाले गुरु, आप जगत को अपरिमित प्रकाश से आलोकित कर देते हैं। यह आपने जो काया परिचय की बात कही, वह कैसे होता है ? ॥ **65** ॥

गुरु के मुखारविंद से काया परिचय की बात सुनकर शिष्य के कान खड़े हो जाते हैं। खुले हृदय से उसकी हर जिज्ञासा का समाधान कर के, संसार की कार्यप्रणाली के विषय में ज्ञान प्रकाश बिखेरने के लिये वह गुरु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है। उसके बाद वह बहुत ही नम्रता से निवेदन करता है कि आपने अभी जो काया परिचय की बात की, वह किस तरह से पाया जाता है।

The Disciple Speaks

|| Dohā ||

amita prakāśata jagata guru mama guru dīna dayāla;
kāyā paricaya jo kahyau so kyõ hoi kṛpāla. **65**.

Boundless light you bring to the world,
O my Guru full of compassion;
knowledge of the body that you mentioned,
O merciful, how does that happen? **65**.

The Guru's mention of the knowledge of the body (*kāyā paricaya*) piques the disciple's interest. He thanks the Guru for the endless ways in which he illuminates the working of the world for him. Then he humbly asks for more details from the Guru on the process of getting to know the body. He asks the Guru, how does one go about it?

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

वे हे शिष वैराग्य को तोहिं सुनावों अंग ।
काया परिचय समुझि करि करहु सदा सतसंग ॥66॥

हे शिष्य, वह तो वैराग्य का प्रकरण है, मैं तुम्हें सुनाता हूँ। काया परिचय का विषय समझ कर तुम सदा सत्संग करते रहना ॥ **66** ॥

गुरु तत्काल शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हैं। वे समझाते हैं कि काया परिचय का सिद्धांत वैराज्ञ अंकुरित करने से, उसके पोषण से सम्बंधित है। वैराज्ञ का अर्थ हुआ संसार के आकर्षण क्षेत्र के मोह से विरक्त रहना, उसके असंख्य प्रलोभनों से निर्विकार रहना। वे कहते हैं काया का अन्वेषण करने के लिये, और काया का परिचय प्राप्त हो जाने के बाद भी, विज्ञ सत्पुरुषों के साथ सत्संग करते रहना परम आवश्यक है। ऐसा इसलिये, क्योंकि ऐसे सज्जन भी सत्य को ही अपना लक्ष्य मानते हैं और जगत के प्रलोभनों से मुक्त रहते हैं।

The Guru Speaks

|| Dohā ||

ve he śiṣa vairāgya ko tōhī sunāvõ aṅga;
kāyā paricaya samujhi kari karahu sadā satsaṅga. **66**.

That, O disciple, deals with detachment,
I relate that theme to you;
understanding the body, remain ever
with company that is true. **66**.

The Guru responds immediately. He tells the disciple that an understanding of the working of the body falls under the limb of *vairāgya* or detachment, that is to say, not falling for the entrapments of this world, and remaining disinterested in its attractions. He advises the disciple to always spend his time with sages and wise people (*satsaṅg*) during, and after gaining an understanding of the body. That is because those people also pursue the truth and keep themselves free of the trappings of the world.

जो ब्रह्मांड सो पिंड महँ सकल पदारथ जानि ।
त्रिधा शरीर भेद लै कारन कारज मानि ॥67॥[19]

जो कुछ भी पदार्थ ब्रह्माण्ड में उपस्थित है, वह पिण्ड में भी दृष्टिगोचर होता है। तीन प्रकार के इस शरीर का भेद जानकर तुम कारण और कार्य के रहस्य को समझो ॥ **67** ॥

काया परिचय के पहले चरण में गुरु शिष्य को बताते हैं कि जो कुछ भी भौतिक पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में उपस्थित है, उसकी उपस्थिति इस शरीर में भी पाई जाती है। अपने आप में यह सिद्धांत हिंदू दर्शन में बहुत प्राचीन है और संत वाणी के अतिरिक्त लोकोक्ति के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। वे शरीर का वर्णन करने के लिये एक विशेषण, 'त्रिधा', का उपयोग करते हैं, जिसका तात्पर्य होता है तीन आयामों या अंशों वाला। इन तीन आयामों का भेद जानने से यह ज्ञात हो जाता है कि यह शरीर ही कारण और कार्य दोनों है। इसको हम कर्म और उसका फल भी कह सकते हैं। इसी शरीर के माध्यम से सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है।

डिक्शनरी ऑफ़ भक्ति में उल्लिखित तीन प्रकार के शरीर – स्थूल, सूक्ष्म, और कारण (Callewaert 2009, 891) – यहाँ उपयुक्त जान पड़ते हैं। यह विचार और पुष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि अमृतबिंदु या ब्रह्मबिंदु जैसे उपनिषदों में कहा गया है, "मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो:" (देखें Sastri 1898, अमृतबिंदूपनिषत् 2) अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन अथवा मुक्ति का कारण है, जो इस दोहे में बाबा कीनाराम के अन्तिम तीन शब्दों – कारन कारज मानि – के संदर्भ में सटीक बैठता है। यहाँ त्रिधा शरीर का अर्थ न केवल स्थूल, सूक्ष्म, और कारण माना जा सकता है, अपितु यह भी कि इन तीन शरीरों के तीन आयाम कारण, बंधन, और मोक्ष भी हो सकते हैं।[20]

19 तु यही भाव सुंदरदास के काव्य में भी परिलक्षित होता है। देखें, Narayandas 1989, 353 सं. 17, "कारण से कारज भया, कारण कारज एक। जैसे कंचन से किये, 'सुंदर' घाट (भूषण) अनेक॥" यहाँ घाट शब्द आभूषण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

20 इस विचार की व्याख्या पुरोहित ने इस प्रकार की है (कल्याण 1935 अगस्त, 219) – "जब जीवरुपी चैतन्य अविद्या में फँसकर अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा तब वही 'कारण शरीर' बन गया; और अंत:करण, पञ्चप्राणसहित पञ्चज्ञानेंद्रिय और पञ्चकर्मेंद्रिय मिलकर 'सूक्ष्म शरीर' कहाया; और फिर पञ्चीकरण विधान के अनुसार सूक्ष्म पञ्चतत्त्वों से उत्पन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक स्थूल पाँच भूतों के द्वारा 'स्थूल शरीर' उत्पन्न हुआ। यह 'स्थूल शरीर' जीव के देहपात के पश्चात् यहीं पड़ा रहता है; और 'सूक्ष्म शरीर' विशिष्ट जीव ही जन्मांतर प्राप्त करता है। 'स्थूल शरीर' केवल 'सूक्ष्म शरीर' का विस्तारमात्र है।"

jo brahmāṇḍa so piṇḍa mahã sakala padāratha jāni;
tridhā śarīra bheda lai kārana kāraja māni.[26] **67.**

All things of the cosmic macrocosm,
know they exist in the body's microcosm;
grasp the secret of the three-fold body,
for it is the cause and effect. **67.**

The first lesson that the Guru imparts is a well-known one in the literature of Hinduism. He tells the disciple to understand that all the substance or physical matter (*padārath* [Skt. *padārtha*]) that exists in this entire universe, also exists within the body. One must understand the threefold nature (*tridhā*) of the body to gain full knowledge of it, and then one begins to understand that the body is the cause as well as the effect for all kinds of accomplishments. The three-fold nature of the body could refer to its three aspects or three parts as discussed in Hindu philosophy.

The *Dictionary of Bhakti* mentions three kinds of bodies – gross, subtle, and causal (Callewaert 2009, 891) – which seem appropriate in this context. This idea is supported by the *Upaniṣads* like the *Amṛtabindu* or *Brahmabindu* where it is stated, "it is the mind that is the cause for human bondage or liberation", which seems to corroborate the point that Baba Kinaram makes that the cause is itself the effect. We can say that the adjective *tridhā* here implies not only the three kinds of gross, subtle, and causal bodies, but also that the three aspects of the body are causal effect, bondage, as well as liberation.[27]

26 Comparable to Sundardās, Narayandas 1989, 353 no. 17, "*kāraṇ se kāraj bhayā, kāraṇ kāraj ek. Jaise kañcan se kiye, 'Sundar' ghāṭ (bhūṣaṇ) anek*" (It is the cause that leads to action, so the cause and the effect are the same. In the same way that, says 'Sundar' it is one gold but innumerable pieces of jewellery).

27 This idea is explained in the periodical *Kalyāṇ* (Purohit 1935, 219) in this way: When the sentient being fell into *avidyā* 'illusion' and began to think of itself as a part of the *Prakṛti* 'nature', then that gave rise to the 'causal body'. Then with the *antaḥkaraṇa* (the inner faculty, heart, soul, mind), *pañcaprāṇa* (the five vital energies), *pañcajñānendriya* (five senses of information or knowledge) and *pañcakarmendriya* (five senses of action) came together to form the 'subtle body'. Then, according to the rule of the five in amalgamation, the five primary elements earth, water, fire, air and sky came together to form the 'gross body'. Once the sentient being is alive no more, this gross body remains here, only the subtle body goes through the process of transmigration. The gross body is merely an extension of the subtle body.

पय अधीन स्थूल है सत्य कहों शिष तोहि ।
सूक्ष्म देह प्रवर्ति कै सो स्वरुप रति होहि ॥68॥

हे शिष्य, मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, सूक्ष्म से ही स्थूल तत्त्व का आविर्भाव होता है। तुम अपने सूक्ष्म स्वरुप को जानकर उसी के प्रति वास्तविक स्नेह को सँजो कर रखो ॥ **68** ॥

गुरु बताते हैं कि जिस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्यपुरुष से इस दृश्यमान भौतिक जगत का उद्भव हुआ है, उसी प्रकार जो सूक्ष्म है, वही स्थूल का नियंत्रण करता है। इस सम्पूर्ण जगत व्यवहार में स्थूल पदार्थ सूक्ष्म के नियंत्रण में हैं। चूँकि यह बात इस स्थूल शरीर पर भी लागू होती है, गुरु शिष्य को स्थूल शरीर में ही स्थित सूक्ष्म शरीर का आविष्कार करने को कहते हैं जिससे कि पुनः उसकी क्षमताओं का अनुसंधान किया जा सके। गुरु के अनुसार वही सूक्ष्म-शरीर शिष्य का शाश्वत 'स्व-रूप' है जिससे उसको एकात्म हो जाना है।

paya adhīna sthūla hai satya kahõ śiṣa tohi;
sūkṣma deha pravarti kai so svarūpa rati hohi. **68.**

The subtle controls the gross,
I tell you the truth O disciple;
discover your subtle body,
delight in that, your actual form. **68.**

Just as the creation came into being from the most subtle and imperceptible True Being, so also, all that is gross is controlled by that which is subtle. This law applies universally. Since it applies to the body also, the Guru asks the disciple to discover the subtle body which exists within the gross body, and then investigate its capabilities. That subtle body, according to the Guru, is the real form (*sva-rūpa*) of the disciple, with which he must become one.

कारन सदा अवश्य है पूरन पूरनताइ ।
माया कारन जगत सब नाम रूप लहि गाइ ॥69॥

संसार में घटने वाली हर घटना के पीछे जो कारण होता है, वह उसी 'पूर्ण' की पूर्णता ही होती है। वही एक शाश्वत सत्य है, किंतु उसकी माया ऐसी है कि जगत अनेकों नाम और रूपों में बँटा हुआ दिखता है ॥ 69 ॥

इस रची हुई सृष्टि में नाना प्रकार के कारण और उनके प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं, लेकिन उन सभी के पीछे जो स्थायी कारण है, जो सभी कारणों और प्रभावों की उत्पत्ति का स्रोत है, वह वही सत्यपुरुष है जो अपनी अविभाज्य पूर्णता में सदा अक्षुण्ण रहता है। इसी कारण से उसके द्वारा उत्पन्न सृष्टि में अनेकानेक छोटे-बड़े भौतिक पदार्थों का उदय और विलय होने के बाद भी उसपर उन सभी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यह उसकी माया का जाल ही है जिसके कारण ये विभिन्न नाम-रूप वाली वस्तुएँ दृश्यमान हैं।

इस सिद्धांत की विवेचना उपनिषद् के आधार पर कुछ विद्वान इस प्रकार करते हैं – परमात्मा ने 'अग्रे' सृष्टिविषयक जो 'ईक्षण' किया उसका स्वरूप यह था – 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।' अर्थात् मैं एक हूँ, बहुत होऊँ, शरीर धारण करूँ। इस सङ्कल्प के 'बहु स्याम्' अंश की पूर्ति हुई, तब 'बहुत्व' की – 'संख्या' की सृष्टि हुई – अनेक जीव उत्पन्न हुए; अथवा यों कहिये कि भगवान् एक थे, अब अनेक हुए। यह भगवान् का 'संख्या' के साथ योग हुआ। भगवान् अनेक हैं, अनेक होते हुए भी एक हैं। यह भगवान् का 'सांख्ययोग' है...

परमात्मा के सङ्कल्प के शेष अंश 'प्रजायेय' की जब पूर्ति हुई तब आत्मा का शरीर से योग हुआ।... अर्थात् क्रम से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय शरीरपञ्च में प्रवेश करके भी – उपनिषद् की भाषा में 'शरीर आत्मा' होकर भी – वह अन्नमयातीत, प्राणमयातीत, मनोमयातीत, विज्ञानमयातीत, और आनंदमयातीत बने रहे। (शर्मा 1935, 65)

kārana sadā avaśya hai pūrana pūranatāi;
māyā kārana jagata saba nāma rūpa lahi gāi. **69**.

There is a cause for everything in this world:
the wholeness of the indivisible 'Perfection';
illusion, though, makes the world appear,
all divided in numerous names and forms. **69**.

The disciple also has to understand well that the source behind all the causes and their effects, as visible in the created universe, is that True Being who is always whole and undivided in its perfect nature, although everything in the world seems bounded and finite. This implies that the True Being is not affected by the cause-and-effect relationship of the universe. Even this cause-and-effect relationship is a part of the web of illusion which makes the world go round, and because of which all the multitudinous names and forms exist.

Some scholars discuss this principle, as demonstrated in the *Upaniṣad*, in the following manner:

> God's will to create is expressed (in Sanskrit text) as *ekohaṃ bahu syā*m *prajāyeya*, meaning I am one, let me be many, let me grow forth.[28] The '*bahu syā*m' part of this resolution resulted in the creation of plurality or numbers – many living beings were born, or, we can say that God who was one, now became many. So, God is now associated with numbers. God is many, but despite being many, he is one. This is God's *Sānkhyayoga*…
>
> When the remaining part of the God's resolution '*prajāyeya*' was fulfilled, the soul got united with the body […] that is, after sequentially entering into the five sheaths of the body – *Annamaya*, *Prāṇamaya*, *Manomaya*, *Vijñānamaya* and *Ānandamaya* – in the language of the *Upaniṣad*, 'embodied soul', despite being alive he remained beyond the effects of the food, the vital energy, thoughts, knowledge and bliss. (Sharma 1935, 65)

28 This statement can be found in *Chāndogya Upaniṣad* 6.2.3; see Jha 1942, 304.

|| चौपाई ||[21]

तीनि शरीर लोक त्रय जानी । पिंड माहँ ताकी सहदानी ॥70॥
पिंड माहँ वस देव गणेशा । पिंड माहँ विधि विष्णु महेशा ॥71॥
पिंड माहँ सुमेरगिरि राजै । पिंड माहँ सब रचना छाजै ॥72॥
पिंड माहँ सप्त ऋषि देखे । पिंड माहँ सूरज शशि लेखे ॥73॥
पिंडहि माहँ आदि अवसाना । पिंडहि माहँ मध्य ठहराना ॥74॥
पिंडहि माहँ लोक सब लहिये । स्वर्ग नर्क अपवर्ग जो कहिये ॥75॥
पिंडहि माहँ गंग की धारा । अरसठ तीरथ सकल विचारा ॥76॥
पिंडहि माहँ दसौ दिगपाला । पिंडहि माहँ कर्म अरु काला ॥77॥
पिंडहि माहँ समुद्र अनेका । पिंडहि माहँ श्रुति चार विवेका ॥78॥
पिंड माहिं पर्वत कै खानि । उच्चास कोटि जग कहै बखानी ॥79॥
पिंडहि माहिं विराजत बेनी । पिंड माहँ सब सुकृत की एनी ॥80॥
सप्त लोक बस पिंडहिं माहिं । पिंड माहँ बैकुंठ कहाहीं ॥81॥
पिंड माहँ शोभित कैलासा । पिंड माहँ सब सुर मुनि बासा ॥82॥
पिंड माहँ नभ नखत प्रकासा । सप्त पताल पिंड मो बासा ॥83॥
शेषनाग बसु पिंडहिं माहीं । वरुण कुबेर इंद्र सब ताहीं ॥84॥
अष्ट सिद्धि नव निद्धि जो कहिये । पिंडहिं माहिं जान कर लहिये ॥85॥
पिंड माहँ सब दिशा देशांतर । पिंडहिं माहँ मंत्र अरु जंतर ॥86॥

तीन प्रकार के शरीर और तीन प्रकार के लोक हैं, जो सभी इस शरीर में विद्यमान हैं ॥ **70** ॥ पिण्ड में ही देवतागण जैसे गणेश, विष्णु और शिव हैं ॥ **71** ॥ पिण्ड में सुमेरु पर्वत है और सृष्टि की रचना का प्रसार है ॥ **71** ॥ पिण्ड में ही आकाशीय सप्त ऋषि, सूर्य एवं चंद्रमा हैं ॥ **73** ॥ पिण्ड में ही जगत रचना के आरम्भ, मध्य और अंत हैं ॥ **74** ॥ पिण्ड में ही सभी प्रकार के लोक, जैसे स्वर्ग, नर्क और अपवर्ग हैं ॥ **75** ॥ पिण्ड में सुरसरि गंगा और अड़सठ तीर्थ भी हैं ॥ **76** ॥ पिण्ड में दस दिक्पाल, कर्मफल और काल, सभी हैं ॥ **77** ॥ पिण्ड में अनेक समुद्र, और चार वेद भी हैं ॥ **78** ॥ पिण्ड में तो पर्वतों की उच्चास करोड़ खानें हैं ॥ **79** ॥ पिण्ड में ही त्रिवेणी संगम और पुण्य कर्मों की नदियाँ हैं ॥ **80** ॥ सात प्रकार के लोक और भगवान् विष्णु का वैकुंठ पिण्ड में ही हैं ॥ **81** ॥ पिण्ड में कैलास पर्वत एवं देवता और मुनिगण वास करते हैं ॥ **82** ॥ पिण्ड में आकाश के नक्षत्र भी हैं और सातों पाताल लोक भी ॥ **83** ॥ शेषनाग, और देवता गण, जैसे वरुण, कुबेर, इंद्र आदि सब इसी में हैं ॥ **84** ॥ अष्ट सिद्धियाँ और नव निधियाँ पिण्ड में ही हैं ॥ **85** ॥ सभी दिशाओं और उनके कोणों के अतिरिक्त पिण्ड में ही मंत्र एवं यंत्र विद्यमान हैं ॥ **86** ॥

काया परिचय के इस उद्घाटन में गुरु बताते हैं कि किस प्रकार सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत में अटूट सम्बंध है, बल्कि स्थूल जगत सूक्ष्म जगत की एक प्रकार की स्वलिखित प्रतिछवि है जहाँ जो कुछ भी बाहर दीख पड़ता है उसकी उपस्थिति शरीर में भी है। उसके बाद गुरु बताना आरम्भ करते हैं कि वे कौन-कौन सी वस्तुएँ हैं जो शरीर में पाई जा सकती हैं। वे इस सूची का आरम्भ सबसे वृहद एवं विशाल वस्तुओं से करते हैं, और फिर उनसे छोटी वस्तुओं को गिनाते हैं, जिससे कि यह शरीर उस सत्यपुरुष का ही एक अणु सरीखा प्रतिरूप प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि तीन प्रकार के शरीर हैं – स्थूल, सूक्ष्म, और कारण – जिनका सम्बंध इन तीन प्रकार के जगत से रहता है। वे कहते हैं कि यह शरीर ही 'आदि' या आरम्भ है, यही 'अवसान' या अंत है, और यही मध्य भी है। इसका अर्थ हम यह लगा सकते हैं कि इस स्थूल संसार की हमारी चेतना पूरी तरह से इस शरीर पर ही आधारित है, जब तक कि हम उस सत्यपुरुष से एकात्म न हो जाएँ। जन्म लेने पर हमें इंद्रिय-ज्ञान द्वारा इस संसार का आभास होने लगता है, जिसे हम अपनी जगत-चेतना का आरम्भ कह सकते हैं। जीवन भर यही जीने का रास्ता दिखाता है, इसलिये इसको हम मध्य मान सकते हैं। और अंत में शरीरपात के साथ हमारी यह अवचेतना भी लुप्त हो जाती है, जिसको हम एक प्रकार का अंत कह सकते हैं।

उसके बाद गुरु बताते हैं कि शरीर में और कौन-कौन सी वस्तुएँ उपस्थित हैं – देवतागण, जैसे गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शेषनाग, जल-देवता वरुण, धन-देवता कुबेर, देवराज इंद्र, और दसों दिशाओं के दिक्पाल। वे कहते हैं कि इस शरीर में तो पर्वतों की उनचास कोटि खानें ही हैं, जिनमें सुमेरु और कैलाश पर्वत भी हैं। आकाश के ग्रह-नक्षत्र भी इस शरीर में हैं जैसे कि सप्तऋषि मंडल, सूर्य, चंद्र, सितारों से भरा आकाश, और सभी

21 काया परिचय से सम्बंधित इस चौपाई की तुलना नारायणदास 1989, 405 (4) सब शरीर में से की जा सकती है।

|| caupāī ||[29]

tīni śarīra loka traya jānī; piṇḍa māhã tākī sahadānī. **70**.
piṇḍa māhã vasa deva Gaṇeśā; piṇḍa māhã Vidhi Viṣṇu Maheśā. **71**.
piṇḍa māhã sumeragiri rājai; piṇḍa māhã saba racanā chājai. **72**.
piṇḍa māhã sapta ṛṣi dekhe; piṇḍa māhã sūraja śaśi lekhe. **73**.
piṇḍahi māhã ādi avasānā; piṇḍahi māhã madhya ṭhaharānā. **74**.
piṇḍahi māhã loka saba lahiye; svarga narka apavarga jo kahiye. **75**.
piṇḍahi māhã Gaṅga kī dhārā; arasaṭha tīratha sakala vicārā. **76**.
piṇḍahi māhã dasau digpālā; piṇḍahi māhã karma aru kālā. **77**.
piṇḍahi māhã samudra anekā; piṇḍahi māhã śruti cāra vivekā. **78**.
piṇḍa māhĩ parvata kai khāni; uñcāsa koṭi jaga kahai bakhānī. **79**.
piṇḍahi māhã virājata benī; piṇḍa māhã saba sukṛta kī enī. **80**.
sapta loka basa piṇḍahi māhĩ; piṇḍa māhã baikuṇṭha kahāhĩ̃. **81**.
piṇḍa māhã śobhita kailāsā; piṇḍa māhã saba sura muni bāsā. **82**.
piṇḍa māhã nabha nakhata prakāsā; sapta patāla piṇḍa mo bāsā. **83**.
Śeṣanāga basu piṇḍahi māhĩ̃; Varuṇa Kubera Indra saba tāhĩ̃. **84**.
aṣta siddhi nava niddhi jo kahiye; piṇḍahi māhĩ jāna kara lahiye. **85**.
piṇḍa māhã saba diśā deśāntara; piṇḍahi māhã mantra aru jantara. **86**.

Know that there are three bodies and three worlds; their presence in the body is well told. **70**.
In the body lives the god Ganesh; as also Brahma, Vishnu and Mahesh. **71**.
Sumeru is in the body – king of the mountains; radiant in the body are all creations. **72**.
In the body are the seven Rishis bright; also the Sun, and the moon, alike. **73**.
In the body is the beginning and the end; in the body does the 'middle' remain. **74**.
In the body are all the worlds begotten; heaven, hell, and the soul's emancipation. **75**.
In the body is the Ganga's stream; sixty-eight holy places are seen. **76**.
In the body are ten guardians of directions; as also time-death and action. **77**.
In the body are many oceans; too, the four scriptures of wisdom. **78**.
In the body is a treasure of mountains; the world describes – forty-nine million. **79**.
In the body shines the confluence splendid; the body has the river of good deeds. **80**.
In the body reside the seven worlds; the presence of Vishnu's heaven is also told. **81**.
In the body shines the Kailāsh mountain; in the body reside all deities and saints. **82**.
In the body is the starlit sky; the seven nether worlds in the body reside. **83**.
Vishnu's serpent and the gods in the body; water, wealth, and rain deities. **84**.

29 This *caupāī* about the knowledge of the body can be compared to Narayandas 1989, 405, (4) *Sab Śarīr mẽ*.

दिशाएँ और देशांतर। इसी शरीर में ब्रह्माण्ड की विशिष्ट रचनाएँ हैं जैसे सभी लोक जिनमें सप्त लोक भी गिना जाता है, स्वर्ग, नरक, अपवर्ग, वैकुण्ठ, सप्त पाताल, अड़सठ तीर्थ स्थान, चार वेद, और आत्मा की मुक्ति का मार्ग। इसी शरीर में अलौकिक शक्तियाँ विराजमान हैं जैसे अष्ट-सिद्धियाँ – अणिमा (बहुत ही छोटा हो जाना), महिमा (बहुत विशाल बन जाना), लघिमा (बहुत ही हल्का हो जाना), गरिमा (अत्यधिक भारी हो जाना), प्राप्ति (बिना अवरोध के यात्रा करना), प्राकाम्य (इच्छाओं को पूरी कर देना), ईशित्व (सभी प्राणियों पर नियंत्रण कर लेना), वशित्व (सभी प्राणियों को वश में कर लेना) – और नव निधियाँ (पद्म निधि, महापद्म निधि, नील निधि, मुकुंद निधि, नंद निधि, मकर निधि, कच्छप निधि, शंख निधि, खर्व निधि) इत्यादि। अष्ट सिद्धियों की सूची में मामूली सा अंतर देखने को मिल जाता है। प्राय: उन्हें अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व एवं यत्रकामावसायित्व ही कहा जाता है (देखें ना. शर्मा 1935, 212-3)। अंतर यह है कि कुछ सूचियाँ यत्रकामावसायित्व के स्थान पर 'गरिमा' नाम की सिद्धि जोड़ देती हैं (देखें गर्दे 1935, 63; पुरोहित 1935, 225)। इसी शरीर में त्रिवेणी और दो नदियाँ भी हैं जिनके नाम हैं गंगा, जो प्राय: वही सुरसरि गंगा है, और अच्छे कर्मों (सुकृत) की नदी। इसके अतिरिक्त इसी शरीर में सभी मंत्र और यंत्र भी विद्यमान हैं।

> The eight super powers and the nine treasures; in the body they can be discovered. **85**.
> In the body – all quarters and regions; right in the body – charms and incantations. **86**.

The Guru then illustrates how the body is a microcosmos, a holographic representation of the macrocosmos harboring elements and objects that exist outside of it. He begins the description from the most expansive subtle elements to the more finite gross elements creating a kind of funnel effect for what goes into the body. The first thing he points out is that there are three bodies which can be understood as the gross body, the subtle body, and a causal body. Corresponding to these three bodies are also three worlds, or we could also say, three dimensions of existence. He mentions that the body is the beginning and the end, as well as the middle (of life). Since, at this stage the body is the only referent point we have to get to know the world, this could indicate that the world exists for us as long as we have an awareness of it. This awareness begins – the 'beginning' – when we are born, and the senses make us aware of the world. This awareness dictates our course of life, and therefore it can be regarded as the 'middle'. When, however, we lose the awareness of the body, or the body dies before we have had a chance to become one with the True Being, then, in a sense, the world ends for us, and that is the 'end. This is one way to interpret what Baba Kinaram mentions.

Then he postulates the following to exist in the body: Gods and deities – Ganesh, Brahma, Vishnu, Shiva, Vishnu's serpent Śeṣanāg, Varuṇa (the water god), Kubera (the god of wealth) Indra (the rain god), and the ten guardians of the directions. The mountains – Sumeru, Kailās and a treasure of mountains. Celestial objects – the Seven *Ṛṣis* (which form the constellation of Ursa Major), the sun, the moon, the starlit sky, and all quarters and regions. Cosmic formations – the seven worlds, the seven nether worlds, all creations, sixty-eight holy places, the four scriptures of wisdom, heaven, hell, and the salvation of the soul. The body is also the repository of eight superpowers (*aṣṭa siddhi* such as *aṇimā* [to become very small], *mahimā* [to become very large], *laghimā* [to become extremely light], *garimā* [to become extremely heavy], *prāpti* [to travel without obstructions], *prākāmya* [the ability to fulfill all desires], *īśitva* [full rights over all objects and beings], *vaśitva* [full control over all living beings]), and *nava nidhi* (*padma nidhi*, *mahāpadma nidhi*, *nīla nidhi*, *mukunda nidhi*, *nanda nidhi*, *makar nidhi*, *kacchap nidhi*, *śaṅkha nidhi*, *kharva nidhi*).[30] [31] Then, within the body is a beautiful confluence and two rivers, one is named as the Ganga, the holy Ganges, and the other is mentioned as the river of good deeds. And then of course are all the *mantras* and chants, all of them can be found in the body.

30 The *aṣṭa siddhi* or eight superpowers can have two slightly different lists. More commonly they are listed as *aṇimā*, *mahimā*, *laghimā*, *prāpti*, *prākāmya*, *īśitva*, *vaśitva* and *yatrakāmāvasāyitva* (see N. Sharma 1935, 212-13). However, some lists add the *siddhi* '*garimā*' to the list and drop the last one – *yatrakāmāvasāyitva* (see Garde 1935, 63; Purohit 1935, 225).

31 See निधि - विकिपीडिया (wikipedia.org).

|| दोहा ||

पाँच तत्त्व गुण तीनि लै रच्यो सकल ब्रह्मांड ।
पिंड माहँ सो देखिये भुवन सहित नव खंड ॥87॥

पंच महाभूतों और तीन गुणों को लेकर ही पूरी सृष्टि की रचना हो गई। इसीलिये पिण्ड में ही इस ब्रह्माण्ड और उसके नव खण्डों को देख सकते हैं ॥ **87** ॥

गुरु शिष्य को इस निष्कर्ष तक पहुँचा देते हैं कि इसी स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर को अनुभव करने का प्रयास करने से पूरी सृष्टि और उसके नौ भुवनों को इसी काया में देखा जा सकता है। ऐसा इसलिए सम्भव है क्योंकि उस सत्यपुरुष ने पूरी सृष्टि को मात्र पंचमहाभूतों और तीन गुणों के सम्मिश्रण से बनाया है। उनकी प्रकृतियाँ और गुण जितनी भी तरह से घुलती-मिलती हैं, उतना ही अधिक इस सृष्टि मंच का खेल विस्तृत होता जाता है।

|| Dohā ||

pẽca tattva guṇa tīni lai racyo sakala brahmāṇḍa;
piṇḍa māhã so dekhiye bhuvana sahita nava khaṇḍa. **87.**

With five elements and three attributes,
they created the whole universe;
so within the body can be spotted
the cosmos and its nine regions. **87.**

The Guru then concludes that when one cultivates the sight to see the subtle body within the gross body, one can see the entire creation and its nine regions within the body. This is because the True Being created the whole universe using the five major elements and the three attributes. Practically everything, then, that exists in the created universe is a result of the play of the nature of these five elements and the three attributes, and in the various ways that they combine and re-combine.

* मंत्र : सो हं रां *[22]

|| चौपाई ||

पिंड माहँ रह देव अनंता । विद्या सहित अविद्या कंता ॥88॥
अंत:करन चारि ठहराये । मन बुधि चित हंकार गनाये ॥89॥
इंद्री एकादश जो बखाना । ज्ञान कर्म तेहि लक्ष बखाना ॥90॥
पाँच प्रान अरु प्रकृति पचीसा । माया सहित जीव जगदीसा ॥91॥
औतारन की कथा जो कहिये । सो सब छात्र सदा हित लहिये ॥92॥
पिंड माहँ दस द्वार बनाये । यह सब वस्तु तहाँ ठहराये ॥93॥
ज्ञान विराग विवेक विचारा । सो सब पिंड केर निरुआरा ॥94॥
मन के हाथ सकल अधिकारा । जो हित करै तो पावै पारा ॥95॥[23]
पिंड माहँ बस अनहद बानी । सिष तेहि समुझि करिय पहिचानी ॥96॥
बानी खानी समुद्रा चारी । पिण्ड माहँ यह सकल सवारी ॥97॥

वह अनंत सत्यपुरुष इसी शरीर में वास करते हैं, वही विद्या और अविद्या, दोनों के स्वामी हैं ॥ **88** ॥ अंत:करण चार कहे गए हैं, जिनमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार गिने जाते हैं ॥ **89** ॥ जो ग्यारह इंद्रियाँ शरीर में गिनी जाती हैं, उनका उद्देश्य कर्म करना और जानकारी देना है ॥ **90** ॥ शरीर में ही पाँच प्राण अपनी पच्चीसों प्रकृतियों के साथ रहते हैं, और साथ ही जगत के ईश्वर भी, अपनी माया के साथ ॥ **91** ॥ अवतारों की कथाएँ जो कही जाती हैं, वे सबके भले के लिये होती हैं ॥ **92** ॥ पिण्ड में दस द्वार भी बनाए गए हैं, फिर भी ये सभी वस्तुएँ अंदर बनी रहती हैं ॥ **93** ॥ ज्ञान, विराग, विवेक के विचार भी पिण्ड को ही समझने, और उसके हित के लिए होते हैं ॥ **94** ॥ पिण्ड के सभी अवयवों में मन ही है जिसके पास पूरी व्यवस्था के अधिकार हैं, इसलिये यदि वह हितकारी हुआ, तो नैया पार लगा दे सकता है ॥ **95** ॥ पिण्ड में ही अनहद वाणी भी बसती है, शिष्य, यह सीख समझ लो, और उसे पहचान लो ॥ **96** ॥ पिण्ड में ही चार प्रकार की वाणियाँ, चार प्रकार से उत्पन्न होने वाले जीव, और चार समुद्र भी सवारी करते रहते हैं ॥ **97** ॥

यहाँ बताए मंत्र को, जिसको प्राय: 'सोऽहं' मंत्र के रूप में भी जाना जाता है, एक प्राकृतिक मंत्र कहा जाता है क्योंकि इसकी ध्वनि-प्रतिध्वनि हर मनुष्य में प्रतिक्षण श्वास की आरोह-अवरोह गति के साथ होती रहती है। जब श्वास अंदर आती है तो 'सो' की ध्वनि होती है, बाहर जाती है तो 'हं' की ध्वनि होती है। इसी का विपरीत कर देने पर यह 'हंस:' मंत्र भी बन जाता है। चूँकि यह मंत्र हर श्वास-प्रश्वास में स्वत: होता रहता है, इसे 'अजपा' मंत्र भी कहा जाता है, जिसे जपना नहीं पड़ता, बस, उसका ध्यान बनाए रखना होता है। इस मंत्र को महावाक्योपनिषद् में तो पाया ही जा सकता है, गोरखनाथ की कही जानेवाली सिद्धसिद्धांतपद्धति में श्लोक 25 में इसे 'सोऽहं' भाव कह कर मनोनीत किया गया है, और पुन: उसमें इसके पाँच गुणों का विस्तृत वर्णन भी है।

पिछली चौपाइयों में यह बताकर कि शरीर के अंदर क्या-क्या पाया जा सकता है, गुरु शरीर पर ही ध्यान रखते हुए यह बताते हैं कि यह शरीर बना किन पदार्थों से है। यहाँ भी वे आरम्भ उन पदार्थों से करते हैं जो शरीर में अत्यंत सूक्ष्म रूप में हैं। उनका कहना है कि अनंत ईश्वरीय चेतना इस शरीर में निहित है और उसका सम्पूर्ण नियंत्रण हर प्रकार के ज्ञान व अज्ञान पर रहता है। इस शरीर के भीतर एक सूक्ष्म अंत:करण है जिसके चार बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश हैं – मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। अंत:करण वह भीतरी इंद्रिय मानी जाती है जिसके विषय संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण आदि हैं तथा जो सुख-दु:खादि का अनुभव करती है। यहाँ उसके अंश, मन पर संकल्प-विकल्प का दायित्व है, बुद्धि विवेक प्रयोग कर निश्चय करती है, चित्त स्मृति को सँजो कर रखता है, और अहंकार सृष्टि के अन्य पदार्थों के साथ व्यक्तिगत सम्बंध देखता है (दास 1965-75)। इसके बाद वे ग्यारह इंद्रियों की उपस्थिति बताते हैं जिनमें पाँच ज्ञानेंद्रिय कही जाती हैं – श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण – तथा पाँच कर्मेंद्रियाँ, यथा वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा। इसके बाद 'मन' को ग्यारहवीं इंद्रिय गिना जाता है क्योंकि वही इन दसों इंद्रियों का तारतम्य बैठाता है। शरीर में ही कई प्रकार की वायु विद्यमान हैं, जिन्हें 'प्राण' की श्रेणी में रखा जाता है, किंतु जिनमें से पाँच सबसे महत्त्वपूर्ण हैं जिन के नाम हैं – प्राण,

22 इस मंत्र का उल्लेख महावाक्योपनिषद् में मिलता है। देखें ब. शर्मा 1935, 97। इसका उल्लेख गोरखनाथ के साहित्य में भी है। देखें बड़थ्वाल 1935, 704।

23 सभी संत मन पर बहुत ज़ोर देते हैं। इनमें गोरखनाथ भी हैं। देखें, "यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त का जीव। यहु मन ले जै उन मन रहै। तौ तीनि लोक की बातां कहै॥" (बड़थ्वाल 1960, 18 सं. 50)। कबीर भी मन के विषय में बहुत कहते हैं। एक उदाहरण, "मन गोरख मन गोबिंदौ, मन हीं औघड़ होइ। जे मन राखे जतन करि, तौं आपै करता सोइ॥" (दास 2000, साखी 22 सं. 10).

Mantra: *so'haṁ rāṁ*[32]

|| caupāī ||

piṇḍa māhã raha deva anantā; vidyā sahita avidyā kantā. **88.**
antaḥkarana[33] *cāri ṭhaharāye; mana budhi cita haṅkāra ganāye.* **89.**
indrī ekādaśa jo bakhānā; jñāna karma tehi lakṣa bakhānā. **90.**
pãca prāna aru prakṛti pacīsā; māyā sahita jīva jagadīsā. **91.**
autārana kī kathā jo kahiye; so saba chātra sadā hita lahiye. **92.**
piṇḍa māhã dasa dvāra banāye; yaha saba vastu tahã̃ ṭhaharāye. **93.**
jñāna virāga viveka vicārā; so saba piṇḍa kera niruārā. **94.**
mana ke hātha sakala adhikārā; Jo hita karai to pāvai pārā.[34] **95.**
piṇḍa māhã basa anahada bānī; śiṣa tehi samujhi kariya pahicānī. **96.**
bānī khānī samudrā cārī; piṇḍa māhã yaha sakala savārī. **97.**

In the body lives the infinite God; over both wisdom and ignorance it lords. **88.**
Four inner faculties are counted; the Mind, Thought, Heart, and Ego are nominated. **89.**
The eleven senses which have been described; knowledge and action – their goals prescribed. **90.**
Five vital-airs with twenty-five natures; with illusion, the Self and the 'Lord of the universe'. **91.**
The stories about the *Avatārs* that are told; O pupil, always benefit all. **92.**
In the body ten doors have been made; yet all these things mentioned still stay there. **93.**
Knowledge, detachment, prudence, scrutiny; all those are to understand the body. **94.**
The mind has the total power to act; if it does good, it can liberate. **95.**
In the body the unstruck sound resides; disciple, that, understand and recognize. **96.**
Four – sounds, life-forms, and oceans; within the body they are all denizens. **97.**

The mantra nominated here, usually referred to as the *so'haṁ* mantra in short, is said to be a 'natural' mantra because it resonates in every human being at every moment with the in and out movement of the breath. When the breath goes in, it makes the 'so' sound, when it exits, it makes the '*haṁ*' sound. Reversing the sound of this mantra gives us another version of it, the '*haṁsaḥ*' mantra. Since this mantra occurs naturally with every breath it is also known as the '*ajapā*' or the unchanted mantra, one does not have to sit down to chant it, one just needs to maintain an awareness of it. This mantra can be found in the *Mahāvākyopaniṣad*, as also in the *Siddhasiddhāntapaddhati* attributed to Gorakhnath, in verse 25 where it is referred to as the *so'haṁ* sentiment, and then its five attributes are described in detail.

Having delineated what goes into forming the body in the previous set of *caupāīs*, the Guru continues to focus attention on the body and the constituents within it. Again, he focuses on that which is subtle first, enumerating

32 This mantra is mentioned in the small *Upaniṣad* titled *Mahāvākyopaniṣad*. See B. Sharma 1935, 97. The literature of Gorakhnath also mentions it. See Barthval 1935, 704.

33 See Callewaert 2009, 16. 1) the inner faculty; heart; soul; mind 2) vital breath (*Prāṇa*).

34 All saints seem to emphasize the mind or the *man*. This includes Gorakhnath. See Djurdjevic, Singh 2019, *sabad* 50. Kabir also talks about the mind. See Hess, Singh 2002, 72 v. 92.

अपान, व्यान, उदान और समान। पंचमहाभूतों में से हर एक की भी पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हैं, जो कुल मिलाकर पच्चीस की संख्या पाती हैं, वे भी इस काया के अंश हैं। इन सभी के द्वारा रचित विश्व-कौतुक की माया में एक तत्त्व और है जो शरीर में उपस्थित है, किंतु जो माया से परे है, और वह है 'आत्मा', जो कि उस सत्यपुरुष का अंश है, और जिसके माध्यम से वह परमात्मा भी इसी शरीर में उपस्थित रहते हैं। यह पूछा जा सकता है कि यदि परमात्मा शरीर में उपस्थित हैं ही, तो अवतारों की परिकल्पना क्यों? गुरु यह समझते हैं कि शिष्य जानता है कि उस परमात्मा की उपस्थिति शरीर के अंदर होने के साथ-साथ शरीर के बाहर भी है, इसलिये वे केवल इतना ही कहते हैं कि अवतारों की कल्पना जनसामान्य के कल्याण के लिये है।

ये सभी तत्त्व इस काया में विद्यमान रहते हैं हालाँकि इसी शरीर में दस द्वार भी हैं जिनके द्वारा प्राण जैसे तत्त्व का निकास भी हो सकता है। ये द्वार हैं पाँचों ज्ञानेंद्रियों के निमित्त (दो कान, दो आँखें, दो नासिका छिद्र, एक मुँह) और कर्मेंद्रियों के निमित्त एक गुदा, एक उपस्थ और एक त्वचा जो छिद्रों से परिपूर्ण है। जीव को शरीर मिलता है कि वह काया के यथार्थ को जान सके, उसके माध्यम से ज्ञान और विवेक प्राप्त कर के अनुभव द्वारा वैराग्य को प्राप्त करे, जो इस भवसागर से पार जाने के लिये आवश्यक है। यहाँ मन एक ऐसी इंद्रिय है जो अन्य सभी इंद्रियों पर शासन करता है। यदि वह जीव के अनुकूल हो जाता है तो अपने विवेक द्वारा उसे संसार के आकर्षण से मुक्त कर सकता है। किंतु यदि वह भोग की ओर ही प्रेरित करता है तो जीव इस संसार के मायाजाल में ही फँसा रह जाता है।

इसी शरीर में अनहद वाणी, वह स्वयंप्रकाशित शब्द है, जो इस समस्त सृष्टि-रचना में भी व्याप्त है। इसे वह अभूत शब्द 'ऊँ' कहा जा सकता है जो सत्यपुरुष की इच्छा के साथ ही प्रस्फुटित हुआ था, और जिसके प्रभाव से ही समस्त सृष्टि का आविर्भाव हुआ। इसे योग का पालन करने वाले अपने शरीर में पूरक द्वारा श्वास भरके, कुम्भक द्वारा उसे वहीं पेट में रोक कर, साथ ही अपनी तर्जनी से दोनों आँखों को बंद कर, अपने अंगुष्ठों से दोनों कानों को बंद कर, अपने नासा छिद्रों को मध्यमा अंगुलियों से बंद कर, अपने ओष्ठों को अनामिका अंगुलियों से ढक कर, और अपनी कनिष्ठा अंगुलियों को ठोढ़ी पर रखकर, सुनने का प्रयास करते हैं। ऐसी मान्यता है कि इस ध्वनि पर ध्यान केंद्रित करने से कई साधक बादलों का सा गर्जन, चिड़ियों की सी चहचहाहट, या मधुमक्खी के भिनभिनाने जैसा शब्द सुन सकते हैं।

इन चौपाइयों की अंतिम पंक्ति में कहा गया है 'बानी खानी समुद्रा चारी', अर्थात चार प्रकार के शब्द, चार प्रकार के जीव, और चार प्रकार के समुद्रों का शरीर में होना उल्लिखित है। 'बानी खानी' का उल्लेख प्राचीन शास्त्रों से लेकर गोरखनाथ, संत समुदाय में कबीरदास, तुलसीदास आदि सभी की कृतियों में मिलता है।[24] बाबा कीनाराम ने भी इस प्रचलित ज्ञान को स्वीकार किया है। फिर भी इसको थोड़ा समझने की आवश्यकता है। पहले 'बानी' शब्द को देखते हैं। यह संस्कृत के 'वाणी' शब्द का परिचायक है। बोलचाल की भाषा में वाणी को बोलने की भाषा या बोलने के स्वर, ढंग इत्यादि समझा जाता है, लेकिन चूँकि अध्यात्म जगत में सृष्टि की उत्पत्ति उस प्रथम नाद से मानी जाती है जो ब्रह्म या सत्पुरुष की सर्जन इच्छा के साथ ही उत्पन्न हुआ, इसका एक अर्थ ध्वन्यात्मक नाद, 'शब्द' या 'स्पंदन' भी है। ऋग्वेद (**1.164.45**) में चार प्रकार की 'वाक्' या वाणियों का उल्लेख है (आनंद 2009, **138**)।[25] इनकी व्याख्या विद्वत्जन 'परा', 'पश्यंति', 'मध्यमा' और 'वैखरी' के रूप में करते हैं। इनमें से पहली तीन तो केवल नाद-रूप में ज्ञेय हैं, लेकिन चतुर्थ, वैखरी, वह वाक् है जिसे मनुष्य सुन सकते हैं और बोलने के लिये जिसका उपयोग करते हैं। गोरखनाथ की वाणियों में भी शरीर में स्थित चार वाणियों का 'सहज', 'संजम', 'सुपाई' और 'अतीत' नाम से उल्लेख है (सिंह 2010, **103**)। कुछ विद्वानों ने इन चार वाणियों को चार वेदों के रूप में भी माना है। बाबा कीनाराम ने विवेकसार में इन वाणियों की व्याख्या नहीं की है, लेकिन उन्होंने यह अवश्य कहा है कि विवेकसार में सभी श्रुति और स्मृतियों का सत्त्व एकत्रित है। इसलिये यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि हम शरीर में स्थित इन चार वाणियों को परा, पश्यन्ति, मध्यमा, और वैखरी के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

प्रचलित हिंदी में 'खान' या 'खानि' का अर्थ खनिज खदान माना जाता है, या वह स्थान जहाँ कोई वस्तु प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो। किंतु आध्यात्मिक साहित्य में इसका अर्थ 'उत्पत्ति स्थल' या और गूढ़ता से देखें, तो जन्म लेने की रीति या प्रणाली भी माना जाता है। हमारे अनुमान से बाबा कीनाराम ने भी इस शब्द का

24 गोरख-बानी में – "चौ अक्षिरी चतर वेद थापिला, चारि षोंणी चारि वांणी।" (बड़थ्वाल 1960, 102)। 'रोमावली', में इसे समझाया है – "चारि षांणी बोलिजै घट भींतर। ते कौंण कौंण। स्वेतरज अंडरज जेरज उदबीरज। सेतरज बोलिये हाड़, जेरज बोलिये बीरज, अंडरज बोलिये नेत्र, उदबीरज बोलिये रोमावली। "चारि बांणी बोलिये घट भींतरि। ते कौंण कौंण । सहज संजम सुपाइ अतीथ। सहज बोलिये सरीर, संजम बोलिये पवन, अतीत बोलिये परम पद।" (बड़थ्वाल 1960, 205)। "कबीर-बीजक में – "एक ही पुरुष एक है नारी। ताते रची खानि भौ चारि।।" (दास 1964, 65 रमैनी 27)। रामचरितमानस में – "चारि खानि जग जीव अपारा" वर्णन है (पोद्दार 2018, बालकाण्ड 35.2)।

25 "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण:। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।" जयदेव शर्मा के ऋग्वेद संहिता भाषा भाष्य के अनुसार वाणी के चार रूपों में कई मतभेद हैं। बाबा कीनाराम के संदर्भ में उनकी सूची की दो परिभाषाएँ सटीक जान पड़ती हैं – 1. भू, भुव:, स्व: और प्रणव ऊँ; 2. परा, पश्यंति, मध्यमा, वैखरी। इनमें 'परा' मूलाधार में सूक्ष्म नाद रूप से रहती है, हृदय चक्र में वही पश्यंती है, बुद्धि में आकर वह मध्यमा है, मुख में आकर वैखरी है। देखें – https://vedicscriptures.in/rigveda/1/164/45।

the presence of the infinite God-consciousness within the body as well as its sway over all knowledge and ignorance. The body also has a subtle element of consciousness called *antaḥkaraṇa* which harbors the four subtle organs: the mind, the conscience, the faculty of thought, as also the sense of 'I', the Ego. *Antaḥkaraṇa* is that inner sense which occupies itself with resolutions, determinations and memory etc. and which experiences sorrow as well as happiness. Of its four parts, the mind is responsible for resolutions, determinations etc., the intellect exercises its wisdom to make decisions, conscience maintains the memory, and the ego looks after its relationship with other constituents of the creation. He then lists the eleven 'senses' as they are mentioned in Hindu texts – five information or knowledge senses such as the sense of sight, smell, taste, touch, and hearing – and five action senses such as the mouth, hands, feet, the anus and the penis. The mind is also treated as the eleventh sense because it coordinates all the other ten senses. The body also has many kinds of vital-airs or *Prāṇa*, five of the most important of which are usually enumerated as *Prāṇa*, *Apāna*, *Vyāna*, *Udāna* and *Samāna*. The five major elements (earth, water, fire, sky and air) have five proclivities ascribed to each, making a total of twenty-five such proclivities or natures. Those, too, constitute the body since the body is made up of the five constituent elements and the illusions they create, but amidst all this illusion the Self still persists. It is the *Ātmā*, which is not illusory, and with its presence even God, the lord of the universe, remains within the body. One could ask in the Hindu context, if God is within the body, where do the stories of the *avatārs*, God's incarnations in physical form, come from? The Guru presupposes that the disciple understands that God exists inside as well as outside of the body, and tells him simply that the stories of the *avatārs* are told to inspire people.

All these subtle elements remain within the body even though there are at least ten doors from which they can exit, each orifice of the senses (two ears, two eyes, two nostrils, one mouth, one anus, one penis and one porous skin) being examples of such doors. The body is gifted to the living being so that they can understand the reality of the body, attain knowledge and wisdom, and then cultivate the detachment which is necessary to transcend the ocean of this world. The mind is the 'organ' of supreme importance here because it reigns as the king of all faculties. If it becomes favorable to the living being and uses wisdom to detach them from the world, it will be of great benefit. Otherwise, if it gravitates towards indulgence with the senses, then the living being remains trapped in the world.

Within the body is also the '*anahad bānī*', the unstruck sound that fills the created universe. This could refer to the first sound '*OM*' that is said to have emanated from the desire of the True Being which led to the creation of the universe. One can listen to this sound by breathing in and puffing one's cheeks with air without letting it out, simultaneously closing both of one's eyes with the forefingers, the ears with the thumbs, the nostrils with the second fingers and the lips with the ring fingers, letting the smallest fingers rest on the chin. Various texts explain that focusing on this sound can also lead one to hear thunder, chirping of birds, the buzzing of bees etc.

The last line of this set of *caupāīs* has the phrase "*bānī, khānī, samudrā carī*", namely the existence of four kinds of sounds, four origins of living beings and four kinds of oceans in the body. This term "*bānī, khānī*" can be traced from the ancient scriptures to Gorakhnath and the tradition of saints including Kabirdas (Hess, Singh 2002, 83-4) and Tulsidas (see Snell 2023, 135) etc.[35] Baba

35 Djurdjevic and Singh's translation from the *Romāvalī* of *Gorakh-Bānī* reads: "Please talk about

प्रयोग यहाँ इसी अर्थ में किया है क्योंकि प्राचीन शास्त्रों में चार प्रकार के जीवों को नामांकित किया गया है, जैसे अण्डज (माँ के गर्भ से उत्पन्न अंडे से जन्मे सभी जलचर, नभचर, और स्थलचर पक्षी, सर्प, मेंढक, मगर, मछली, कछुए आदि), जरायुज (गर्भ से उत्पन्न, जैसे मनुष्य, राक्षस, पिशाच और पशु जैसे सिंह और मृग), स्वेदज (स्वेद या पसीने या कह सकते हैं ऊष्मा से उत्पन्न, जैसे कि मच्छर, जुएँ, मक्खी, खटमल और इस प्रकार के कीट-पतंग), तथा उद्भिज (बीज तथा शाखा से लगनेवाले भूमि से उत्पन्न, जैसे, वृक्ष, वनस्पति आदि) (देखें नेने 1981, 17, ऐतरेयोपनिषद् 1995, 89)।

अब हम इस वाक्यांश में दिये 'समुद्रा चारी' अभिव्यक्ति को देखते हैं। यह हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि हम इसे एक शब्द के रूप में लें, यथा 'समुद्राचारी', जिसका अर्थ एक समुद्री जीव होगा, उसी प्रकार जैसे कि एक जलचर का अर्थ पानी में रहनेवाला, थलचर का अर्थ भूमि पर रहनेवाला और नभचर का अर्थ अकाश में विचरण करनेवाला जीव होता है। या इसे हम दो शब्दों के रूप में देख सकते हैं यथा 'समुद्रा चारी', यानी चार समुद्र। चूँकि बाबा कीनाराम ने इसे दो शब्दो में लिखा है, हम मान सकते हैं कि उन का आशय शरीर में चार समुद्रों की उपस्थिति इंगित करना ही है। स्कंदपुराण जैसे हिंदू ग्रंथों में चार समुद्रों का उल्लेख है, जैसे क्षीर समुद्र (दूध का सागर), क्षर समुद्र (नमकीन या क्षारीय सागर), दधि समुद्र (दही या उसके जैसी तरलता वाला सागर), एवं इक्षु समुद्र (मीठा सागर, क्योंकि इक्षु का अर्थ ईख या गन्ना होता है) (देखें संक्षिप्त स्कंद पुराण 2019, 916)।[26] यहाँ भी बाबा कीनाराम ने इनकी व्याख्या न कर केवल शरीर में उनकी उपस्थिति से अवगत करा दिया है।

26 स्कंदपुराण के अवंती खण्ड में इन चार समुद्रों का उल्लेख है। किंतु इसी पुराण के नागरखण्ड उत्तरार्ध (2019, 1203) में सात समुद्रों का उल्लेख है जहाँ पृथ्वी-दान की महिमा में लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दही, दूध तथा जल के सात समुद्रों का नाम लिया गया है।

Kinaram has accepted this prevalent understanding of the creation. Still, it needs some explanation. First let us look at the word *bānī*. It is a modification of the Sanskrit word *vāṇī*. In common parlance it is often regarded as the sound, style or the language of communication, but since in the Hindu spiritual world the creation is said to have emanated from the primordial *nāda* or the sonic boom at the instant that the True Being willed a creation, it also signifies a sonic word, sound, or vibration. *Ṛgveda* (1.164.45) mentions four kinds of *vāṇī* or *vāk* which can be understood as speech or vibration. Scholars elucidate them as *parā*, *paśyanti*, *madhyamā*, and *vaikharī*. Of these, the first three are perceptible only as a sonic vibration, but the fourth, the *vaikharī*, is that faculty which humans use to communicate with speech. In the literature of Guru Gorakhnath also one finds the mention of 'four *khoṇī* four *vānī*' (see Barthval, 1960, 102 v. 5), namely *sahaja*, *sanjam*, *supāī* and *atīt*. Other scholars have sometimes interpreted the four *vāṇī* to refer to the four *Vedas*. Baba Kinaram has not provided us with an explanation of these terms, but he does mention in *Viveksār* that his text contains the essence of *Vedas*, *Upaniṣads* and the *Puraṇas*. So it seems appropriate to list the *parā*, *paśyanti*, *madhyamā* and *vaikharī* versions of speech here as Baba Kinaram's intent since these terms draw from the *Vedas* and the *Upaniṣadic* literature.

In colloquial Hindi the word *khānī* or *khan* is understood as a mine, or a repository or treasury of some valuable mineral. But in Hindu spiritual literature it also signifies a 'place of birth or origin', or, if we look even more closely, the 'type or manner of birth'. The author feels that Baba Kinaram has used this word with this particular intent because ancient scriptures list four kinds of living beings or species in the kingdom of nature, namely *andaja* (egg-born which includes all water, land and sky venturing beings such as birds, snakes, frogs, crocodiles, turtles etc.), *jarāyuja* (placenta-born such as human-beings and certain animals like the lion and the deer), *svedaja* (sweat or heat-born such as mosquitoes, flies, lice, bed bugs and certain insects), and *udbhija* (born from seed or branch such as certain categories of plants and vegetation) (see Nene 1981, 17; *Aitareyopaniṣad* 1995, 89). So all these four sources of life also exist in the body.

Then we come to the expression *samudrā cārī* where the meaning depends upon whether one reads this expression as two words – implying four oceans – or one word, *samudrācārī*, implying an 'ocean dweller' (such as *jalcar* = water dweller; *thalcar* = earth dweller; *nabhcar* = sky dweller). Since Baba Kinaram has written this expression as two words in his text, we assume that he intends to signify the presence of four oceans in the body. In Hindu texts such as the *Skanda Purāṇa* these are mentioned as *kṣira samudra* (the ocean of milk), *kṣara samudra* (salty or alkaline ocean), *dadhi samudra* (an ocean of yogurt) and *ikṣu samudra* (sweet ocean, since *ikṣu* signifies sugarcane) (see Bhatt 1997, 58).[36] Of course, Baba Kinaram has not named these four oceans in the body, he simply attests to their presence therein.

the four forms hidden in the body – what are they? Those born from sweat, from egg, from womb, and from the seed […] Please talk about the four names hidden in the body. What are they? [They are] *sahaj* [natural or 'born together']; *saṃyam* [control]; *svayambhū* [self-born], and the beyond". Hess and Singh translate it from *Kabīr-Bījak*, *Ramaini* 27 as, "From them the four life-forms… From one egg of Om, the whole cosmos spread". Snell, in *Reading the Rāmcaritmānas*, 135 no. 35.2 translates *cāri khānī* as 'beings of all four origins' and explains that these are four 'types of birth': 1. Born of an egg; 2. Sweat or heat and moisture produced; 3. Born of a caul; and 4. Sprouting.

36 In the same *Purāṇa*, however, in the *Nāgarkhaṇḍa Uttarārdha* section, seven oceans are mentioned while describing the importance of donating a replica of the earth, those of salt, sugarcane, wine, ghee (clarified butter), yogurt, milk and water.

|| दोहा ||

सो सब प्रभु महँ रमि रह्यो जड़ चेतन निज ठौर ।
ताते राम सँभारि गहु सबन नाम को मौर ॥98॥

ये सभी वस्तुएँ पृथक दिखते हुए भी उसी एक ईश्वर में रम रही हैं, चाहे वे जड़ वस्तुएँ हों या चेतन। इसीलिए राम के नाम को ध्यान से सम्हालकर धरो, क्योंकि यही एक नाम सभी नामों में सर्वोपरि है ॥ **98** ॥

गुरु समझाते हैं कि यह सब कुछ जो शरीर में विद्यमान है, वह उस प्रभु से पृथक नहीं है, उन्हीं का एक अंश होने के नाते इनमें से हर पदार्थ का, जहाँ वे हैं, अपना एक विशिष्ट स्थान है। इसलिये गुरु शिष्य से दुहराते हैं कि राम के नाम को हृदय में सम्हाल कर रखो क्योंकि संसार के सभी नाम और रूपों में यही एक नाम है जिसमें सभी अन्य नाम और रूप समा जाते हैं। वही सब नामों का शीर्ष मुकुट है।

|| Dohā ||

so saba prabhu mahã rami rahyo jaḍa cetana nija ṭhaura;
tāte Rāma sābhāri gahu sabana nāma ko maura. **98.**

All these delight within the corpus of God,
inanimate or animate, each in its place;
so take care to hold the name of Rama,
For it is the crown of all names. **98**.

The Guru then points out that none of all that constitutes the body is apart from God, each of these elements has their own place and their own need to be there. That is why he says to the disciple, hold on to the name of God, Rama, carefully, because of all the names and forms that make this world, that one name is the crown.

शंकाई संसार है ताते होइ निवृत्ति ।
मन हित करि अमृत पिवै देखो सकल प्रवृत्ति ॥99॥

यह संसार तो शंकाओं का ही घर है, उससे मुक्ति मिल जाएगी। और यदि मन ने साथ दे दिया, तो समझो अमृत पान कर लिया, क्योंकि तब सभी प्रवृत्तियाँ और व्यवहार जो शंका उत्पन्न करते हैं, सहज समझ में आ जाते हैं ॥ **99** ॥

गुरु शिष्य को फिर समझाते हैं कि यह समस्त संसार नाना प्रकार की शंकाओं और दुविधाओं से भरा हुआ है। ऐसा इसलिये है क्योंकि पंचमहाभूतों और उनकी पच्चीस प्रकृतियों और तीन गुणों के साथ रची इस सृष्टि का चरित्र ही ऐसा है जहाँ यह आकर्षक तो बहुत लगता है, लेकिन साथ ही यह सब कुछ इतना अस्थिर और क्षणभंगुर है कि उसके शाश्वत होने में घना संदेह उत्पन्न कर देता है। इस अनवरत घमरौल में भी यदि मन सहायक हो जाता है और केवल आकर्षित होने के स्थान पर वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति को दिखाने लगता है, तो जीवधारी को इस रचना की कार्यशैली के बारे में बोध होने लगता है। ऐसा होने पर, एक प्रकार का द्रष्टाभाव आ जाने के उपरांत, जीव का बोधमय जीवन अमृतमय हो जाता है क्योंकि वह अपने चारों ओर के झंझावात को अनुभव तो अवश्य करता है, लेकिन उससे प्रभावित हुए बिना जीवन पथ पर बढ़ता रहता है।

śaṅkāī saṁsāra hai tāte hoi nivṛtti;
mana hita kari amṛta pivai dekho sakala pravṛtti. **99**.

The world is so full of misgivings,
from that you will find release;
if the mind is helpful, drink ambrosia,
observe all tendencies. **99**.

The Guru continues to alert the disciple that the world is full of doubts and misgivings. This is so because, as mentioned earlier, the nature and characteristics of the five major elements and their twenty-five attributes together with the three tendencies, create a world which is simultaneously enchanting yet transient, and therefore leads to all kinds of doubts about its permanence. In the middle of this turmoil, though, if one's mind becomes favorable and begins to show the nature of things as they really are, then the living being begins to truly understand the workings of this world. Then it is as if that person drinks the ambrosia of knowledge, remaining unchanged while all tendencies around change continuously.

पवन संग मन शब्द लै प्रान ब्रह्म अरु हंस ।
सुन्न काल जिव मिलि रहै निरंजन ताहि प्रसंग ॥ 100 ॥[27]

श्वास के साथ मंत्र का स्पंदन मन से लेकर प्राणवायु, और फिर हंसा रूपी आत्मा और उसके वृहद रूप ब्रह्म तक केवल उसी का स्पंदन होने दो। यह शून्य की एक ऐसी अवस्था में पहुँचा देगा जहाँ जीव का उस अलक्ष्य सत्ता, निरंजन से, एकात्म हो जाता है ॥ **100** ॥

अब गुरु शिष्य को व्यावहारिक अभ्यास बताते हैं। वे कहते हैं कि तुम अपने श्वास पर ध्यान केंद्रित करो और उसके साथ ही अपने मंत्र का भी जप करो। इस मंत्र जप को इस प्रकार चलने दो कि यह चंचल मन के साथ एकीकार होकर उसे स्थिर कर दे, और उसमें फिर और कोई विचार न आए, न जाए। ऐसा होने पर साधनारत शिष्य समाधि की अवस्था की ओर अग्रसर होता है जहाँ उसका श्वास, उसका प्राण, उसकी आत्मा, जो उसी अदृश्य, अज्ञेय परम् आत्मा का अंश है जिसे निरंजन की उपाधि से भी विभूषित किया जाता है, सब एकीकार हो जाते हैं। इस अवस्था के काल और स्थान को बाबा कीनाराम ने एक रोचक उक्ति, सुन्न-काल, कह कर बताया है। यह एक शून्यावस्था की द्योतक अवस्था है जहाँ समय या काल भी अपना अस्तित्व खो देता है, और साधक अपने आप को कालातीत पाता है, उसे समय का ज्ञान नहीं रहता। साथ ही, शरीर का भी आभास न होने के कारण वह वस्तुत: एक शून्यावस्था ही हो जाती है। कुछ विद्वन इस 'सुन्न' को ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्रदल कमल का अनुभव मानते हैं, क्योंकि यहाँ ही उस प्रभु या परमात्मा की उपस्थिति और प्रकृति का ज्ञान हो पाता है।[28]

यहाँ एक पल निरंजन शब्द का मनन करते हैं। यह शब्द नाथ साहित्य में बहुत आम है। महादेव शिव का एक नाम होने से ऐसा होना स्वाभाविक है। लेकिन संज्ञा होने के साथ-साथ यह एक विशेषण भी है। बोल-चाल की हिंदी में 'अंजन' का अर्थ काजल या ऐसा ही सौंदर्य प्रसाधन होता है। उस दृष्टि से निरंजन शब्द का अर्थ होना चाहिये 'काजल या अंजन के बिना'। शब्दकोश में इसे कल्मष-शून्य, दोषरहित, माया से निर्लिप्त, सादा आदि विशेषणों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। किंतु भक्ति या अध्यात्म की परम्पराओं में इसका अर्थ, इन विशेष अर्थों के कारण, ब्रह्म के उस रूप के लिये माना जाता है जो दृष्टिगोचर न हो, जिसमें कोई धब्बा या चित्ती न हो और इस कारण अदृश्य रहे, अलक्ष्य हो। इसलिये हम यहाँ, और इस पुस्तक में आगे भी, निरंजन शब्द को अदृश्य और अलक्ष्य रूप में ही ले रहे हैं। हाँ, जहाँ-जहाँ बाबा कीनाराम ने इसका प्रयोग उस अदृश्य ईश्वरीय सत्ता के नाम के रूप में किया है, वहाँ-वहाँ, प्रसंग के अनुसार, हम उसे उस नाम के रूप में भी देखेंगे।

27 अगली 11 चौपाइयों में शिष्य इस दोहे में प्रयुक्त हर शब्द के बारे में पूछता है। धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री बल देते हैं कि संतमत के अघोर दर्शन में बहुत कुछ उपनिषदों से आया है। वे श्वेताश्वतर उपनिषद् (6।19) की इस पंक्ति का उदाहरण देते हैं, "निष्कलं निष्क्रियं शांतं निरवद्यं निरंजनं।" उनका कहना है कि 'जीवात्मा' के लिये संतों ने उन्मुक्त भाव से 'हंस' शब्द का प्रयोग किया है (शास्त्री 1959, पीठिका-ध्याय 5)। राहुल सांकृत्यायन के दोहा कोश में भी ऐसा ही झलकता है, "शून्य निरंजन परम पद, ना तहि पुण्य न पाप ॥ पंच काम-गुण भोजनेहि, निश्चिंत स्थितेहि॥" (सांकृत्यायन 1957, 1. [क] दोहाकोश-गीति [छाया], 31 सं. 143)।

28 देखें सिंह 2010, 167, सुंनि = ब्रह्मरंध्र।

pavana saṅga mana śabda lai prāna brahma aru haṁsa;[37]
sunna kāla jiva mili rahai nirañjana tāhi prasaṅga. **100.**[38]

Absorb the 'Word' with the breath in the mind,
the vital air, Soul and the Brahman;
the sentient being in the void of time,
then meets the 'One without collyrium'. **100.**

Now, within the body, the Guru tells the disciple to focus on the breath, and with it, to chant the mantra. Let this word or the mantra flow seamlessly with the breath and become one with the mind where no other thought remains. In such a condition a practitioner moves towards the state of *samādhi* where the life-force or the vital air, the embodied Soul, and the formless and imperceptible divine spark of God within the body, the *Nirañjan*, all unite to become one. Baba Kinaram uses an interesting expression to denote the time and the place for such a union, *sunna kāl* which indicates, literally, benumbed time, or zero time, such as a time where there is no sense or presence of time. Some scholars interpret the '*sunna*' to mean the thousand petaled lotus at the top of the cranium, the *Brahmarandhra*. This is where such an experience of the nature and presence of God takes place.[39]

Let us dwell for a moment on the word *Nirañjan*. This word occurs very commonly in the Nath literature. Since it is a name of Shiva, such an occurrence is quite natural. But besides being a noun, this word is also an adjective. In conversational Hindi the word *añjan* implies collyrium, or a similar aid to beauty. From that perspective, the meaning of the word *Nirañjan* should be 'without collyrium'. That is how Djurdjevic and Singh translate it in *Sayings of Gorakhnāth*. In the dictionary as an adjective this word is also described as without any taint, spotless, without any faults, detached from illusions, plain and simple etc. Because of these adjectives, in the traditions of spirituality, this word is used for that form of the indescribable *Brahman* which is so pure and without spots or blemish that it cannot be perceived, it remains invisible. That is why we are adopting the meaning of imperceptible and unknowable for this word in this except in the translation of verse number 100 here, where we have retained the expression 'One without collyrium' for poetic harmony. However, wherever Baba Kinaram uses it as a name for that Godly power, we also refer to it as a noun in that mode according to context.

37 Each word in this *dohā* is asked about by the disciple in the next 11 *caupāī*s! Dharmendra Brahmachari Shastri stresses that a lot of *Santmat* and Aghor philosophy draws from the *Upasniṣads*. He cites this line from the *Śvetāśvatara Upaniṣad* (6|19) – "*niṣkalaṁ niṣkriyaṁ śāntaṁ niravadyaṁ nirañjanaṁ*" (one who is without any parts, action, who is tranquil, without any faults, stainless). He further states that for the '*Jīvātmā*' they have prolifically used the word '*haṁsa*' (Shastri 1959, pīṭhikādhyāya 5). Also compare to *Dohā-Koś*, "śunya nirañjan param pad, nā tahi puṇya na pāp" (The void is stainless, the supreme state, there is no virtue or sin) (Sankrityayana 1957, 1[K] *Dohākoś-gīti* [*chāyā*], 31 no. 143).

38 In colloquial Hindi '*añjan*' implies collyrium. By that reckoning, *nirañjan* would mean someone who has not applied the eyeliner. In that sense, without any kind of a beauty-mark or spot on the person, they can be considered 'untainted' by artifice and therefore, 'pure'. But in the yogic and *bhakti* traditions this lack of a spot on the untainted presence of the creator makes it impossible to see or perceive it. So, this word is used to denote the invisible to the eye, the imperceptible nature of God. Therefore, we are using the words 'invisible' and 'imperceptible' to denote the non-visible nature of the Godhead. However, this word has also been translated as 'colorless' (see Djurdjevic, Singh 2019, *Sabad* no. 77).

39 See Singh 2010, 167, *sunni* = *brahmrandhra*.

3 विज्ञान अंग[29]

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

ज्ञान अंग वैराग्य सुनि पायउँ परम प्रतीति ।
सतगुरु मोहिं बताइये काया कमल की रीति ॥101॥

ज्ञान अंग और वैराग्य का प्रकरण सुन कर न केवल शिष्य के सामने का दृश्य स्पष्ट होने लगा है, अपितु उसकी आस्था भी दृढ़ होती जा रही है। अब वह सद्गुरु से काया कमल के क्रियान्वयन का ज्ञान पाना चाहता है ॥ **101** ॥

शिष्य को, जो ध्यान से गुरु के उपदेश को सुन रहा था, इन बातों का ज्ञान होने पर बहुत तुष्टि का अनुभव होता है। वह गुरु से अपना हर्ष निवेदन करता है कि उनके वचनों से आध्यात्मिक विषयों के बारे में उसकी समझ और गहन हो गई है। उसे लगता है कि कुछ अमूल्य मिल गया है। लेकिन उसे यह भी ज्ञात है कि अभी भी बहुत कुछ सीखना बाकी है। इस उद्देश्य से वह गुरु से निवेदन करता है कि वे उसको विस्तार से काया-कमल के बारे में बताएँ।

सामान्य दृष्टि से देखने पर काया-कमल की संज्ञा शरीर के लिये मात्र एक काव्यमय अलंकरण प्रतीत हो सकता है। किंतु योग, और विशेषकर तंत्र साहित्य में यह संज्ञा एक विशेष अर्थ रखती है। यह उस सूक्ष्म शरीर की द्योतक है जो इसी भौतिक शरीर में विद्यमान है, और जिसमें नीचे से ऊपर तक कई चक्र उपस्थित हैं जो शक्ति-संचरण के केंद्र माने जाते हैं। परम्परा-विशेष के अनुसार इन चक्रों की गणना में अंतर हो सकता है। बाबा कीनाराम भी यहाँ इसी दृष्टिकोण से काया-कमल की बात कर रहे हैं, यह मात्र अभिव्यञ्जना की काव्यमयता नहीं है।

29 इस अंग का शीर्षक विज्ञान-अंग है। आम भाषा में विज्ञान का अर्थ होता है किसी विशिष्ट विषय के तत्वों या सिद्धांतों आदि का विशेष रूप से प्राप्त किया हुआ ज्ञान जो ठीक क्रम से संग्रहीत हो, जैसे शरीर-विज्ञान, जीव-विज्ञान इत्यादि। इस भाव का विस्तार करके हम कह सकते हैं कि विज्ञान अनुभव-जनित व्यावहारिक ज्ञान होता है।

3 *Vijñāna aṅga*: On the Theme of Proficiency[40]

The Disciple Speaks

|| Dohā ||

jñāna aṅga vairāgya suni pāyaũ parama pratīti;
satguru mohī batāiye kāyā kamala kī rīti. **101**.

Hearing the teaching on wisdom and detachment
I felt supreme faith, clarity and conviction;
O true Guru please tell me,
how does the lotus-body function. **101**.

The disciple, who has been listening to the Guru's discourse with attention thus far, feels gratified on receiving this knowledge. He expresses his delight at the clarity the Guru's discourse has brought to his understanding of spiritual concepts. But there is much more to learn. Now he asks the Guru to tell him about the ways in which the lotus of the body works.

The term '*kāyā kamal*' seems innocuous in that it could be a poetic way of referring to the body. But it is recognized in Tantric literature that the 'lotus body' usually refers to the subtle body with various number of *cakras* or energy nodes recognized within it, depending on the tradition one is looking at. It seems that here Baba Kinaram is referring to the subtle body, it is not a mere poetic reference to the physical body.

40 The title of this chapter is *vijñāna aṅga*. In modern standard Hindi *vijñāna* implies science, and by extension, a practical mode of functioning in the world as learned from experience and trial and error. So, we have opted to translate the title of this chapter as 'proficiency' in the mundane world. Djurdjevic and Singh thoughtfully translate *vijñāna* as "knowledge of the world (as distinct from knowledge of *Brahman* acquired by meditation and study)" (Djurdjevic, Singh 2019, *Sabads* 4).

|| चौपाई ||[30]

मन सो कौन कहिय मोहि स्वामी । सब प्रकार तुम अंतरजामी ॥102॥[31]
पवन सो कवन निरंतर कहिये । जेहि तें युक्ति यत्न सब लहिये ॥103॥
कौन शब्द सो मोहिं समुझावो । निर्भय मारग जानि लखावो ॥104॥
प्रान कौन तसु हेतु विचारी । सो सुधि कहिय मोह तम हारी ॥105॥
कौन ब्रह्म गुरुदेव कहीजै । सो सिख सरल सार मोहिं दीजै ॥106॥
पुनि प्रभु हंस सनेह जनाई । अनुभव करि यह देहु बताई ॥107॥
काल कौन जेहि जोगी जानै । अजरा अमर आपु कहँ मानै ॥108॥
कौन जीव कहिये ठहराई । कौन शीव निर्भय पद पाई ॥4॥109॥
और एक पूछौं गुरु नाथा । कौन निरंजन जन नहिं साथा ॥110॥

हे अंतर्यामी गुरु, मुझे बताइये कि मन कौन है ॥ **102** ॥ निरंतर चलने वाला पवन क्या है, जिससे सब कार्य सम्भव होते हैं ॥ **103** ॥ शब्द क्या होता है, उस निर्भय मार्ग का ज्ञान बताइये ॥ **104** ॥ प्राण क्या होता है, उसके विषय में कहिये, आप तो मोह के अंधकार को हर लेते हैं ॥ **105** ॥ मुझे यह सरल सीख दीजिये कि ब्रह्म कौन है ॥ **106** ॥ आप मुझे हंस के विषय में बताकर उसका भी अनुभव प्रदान करें ॥ **107** ॥ बताइये कि काल कौन है जिसे योगी लोग जानते हैं, और जानकर स्वयं को अजर-अमर मानते हैं ॥ **108** ॥ यह भी कहें कि जीव कौन है, और शिव कौन हैं जो सदा निर्भय रहते हैं ॥ **109** ॥ अंत में एक और बात पूछता हूँ गुरुदेव, निरंजन कौन हैं, जिनके साथ कोई नहीं है ॥ **110** ॥

गुरु से काया-कमल के विषय में विधिवत् जानने के लिये शिष्य इस शरीर में उपस्थित सूक्ष्म अवयवों के बारे में पूछता है, और इस प्रक्रिया में हमें हिंदू अध्यात्म परम्पराओं में प्रचलित सूक्ष्म पदार्थों के बारे में एक विशिष्ट शब्दावली से अवगत करा देता है। वह पूछता है कि मन क्या या कौन है, उसकी परिभाषा क्या है? पवन क्या है? क्या वह काया के भीतर भी वही है जो काया से बाहर है? 'शब्द' की परिकल्पना क्या है? शरीर में 'प्राण' क्या होता है? और ब्रह्म, वे कौन हैं, कैसे हैं। इस काया में हंस क्या होता है? साथ ही, वह 'काल' क्या होता है जिसे कि योगी लोग जीत भी लेते हैं? इस काया में 'जीव' की परिभाषा क्या है, और वह 'शिव' से किस प्रकार भिन्न है? और अंत में वह पूछता है कि वह 'निरंजन' कौन हैं जो दृष्टिगोचर नहीं होते, और सदैव एकाकी ही रहते हैं।

30 तु. बड़थ्वाल 1960, 187 सं. 7 । परिशिष्ट देखें।

31 तु. सुंदरग्रंथावली, "कौन बहिर मन कहिये स्वामी..."। (नारायणदास 1989, 125 अथ त्रिविध अंतःकरण भेद ग्रंथ 37 सं. 1)।

|| caupāī ||[41]

mana so kauna kahiya mohi svāmī; saba prakāra tuma antarjāmī.[42] **102.**
pavana so kavana nirantara kahiye; jehi tẽ yukti yatna saba lahiye. **103.**
kauna śabda so mohĩ samujhāvo; nirbhaya māraga jāni lakhāvo. **104.**
prāna kauna tasu hetu vicārī; so sudhi kahiya moha tama hārī. **105.**
kauna brahma gurudeva kahījai; so sikha sarala sāra mohĩ dījai. **106.**
puni prabhu haṁsa saneha janāī; anubhava kari yaha dehu batāī. **107.**
kāla kauna jehi jogī jānai; ajarā amara āpu kahã mānai. **108.**
kauna jīva kahiye ṭhaharāī; kauna śīva nirbhaya pada pāī. **109.**
aura ek pūchaũ guru nāthā; kauna nirañjana jana nahĩ sāthā. **110.**

What is the mind, O Lord please say; you are omniscient in every way. **102**.
Please tell what is the constant breath; which leads to all insight and effort. **103**.
What is the 'Word', please do explain; show me the path to fearless wisdom. **104**.
What is the vital air, what is its reason; make me aware, shredding dark delusion. **105**.
O Gurudev reveal who is the *Brahman*; give me the simple essence of that teaching. **106**.
Then, Lord, reveal the swan kindly; tell me how I may experience it. **107**.
Who is the 'Time' that the yogis best; then think they are beyond decay and death. **108**.
Who is the sentient being please dictate; who is the Shiva in the fearless state. **109**.
And one more I ask O Guru-lord; who, alone, is the Invisible God. **110**.

The disciple then elaborates his question by pointing out specific elements within the lotus body that he seeks to know about. In this process he makes us aware of the special vocabulary pertaining to spirituality in the Hindu traditions. He asks about the *man* (commonly translated as the 'mind'), the constant breath which is the engine of all that happens in life, the 'Word' which emanated with the desire of the True Being, the vital-air or energy which is the foundation of all life, *Brahman* – the creator of the universe – sometimes thought of in an anthropomorphic way, the Soul which inhabits the body and is also referred to as the swan, the presence of time or the time-less element within the body, the nature of the embodied soul or the sentient being, and the imperceptible God who is also present within the lotus body.

41 Comparable to Barthval 1960, 187 v. 7. See Appendix.

42 Comparable to *Sundargranthāvalī*, "kauna bahira mana kahiye svāmī…" (O lord, please tell, what is the outer mind…) (Narayandas 1989, 125 *Atha Trividha antaḥkaraṇa Bheda Grantha* 37 v. 1).

|| दोहा ||

यह सब मम संशय हरो बहिरंतर हित होइ ।
चित प्रकाश रवि सद्गुरु रामकिना हित सोइ ॥ 111॥

मेरी इन सभी शंकाओं का निदान कर दीजिये गुरु, जिससे अंदर और बाहर, दोनों जगह मेरा कल्याण हो।
सद्गुरु चित्त को आलोकित कर देने वाले सूर्य के समान हैं, वही कीनाराम का हित करते हैं ॥ **111** ॥

शिष्य अपने आंतरिक और बाह्य, यानी शरीर और आध्यात्मिक उत्थान, दोनों के हित के लिये गुरु से यह प्रसाद माँगता है। संशय एक प्रकार का मल है जो उसे अंदर और बाहर उस अलक्ष्य अनुभव से दूर रखता है। इस प्रयास में वह अपने गुरुदेव का ही आश्रय ले सकता है, उसे उन्हीं पर पूर्ण विश्वास है, क्योंकि वे ही हमेशा उसका हित करते हैं। वे चित्त को प्रकाशित करने वाले एक सूर्य के सदृश हैं।

|| Dohā ||

yaha saba mama saṁśaya haro bahirantara hita hoi;
cita prakāśa ravi sadguru Rāmakinā hita soi. **111**.

Please remove all doubts of mine,
it will do good to the body and soul;
Sunlight to the mind is the True Guru,
He is always propitious to Kinaram. **111**.

The disciple makes this request for clarity so that he may achieve well-being inside and out, that is to say, total and holistic welfare of his spiritual body and mind. He states his trust for the Guru by stating that the Guru is the veritable sunlight that enlightens the dark nooks and crannies of the mind, and in that, he is the sole benefactor to rely upon.

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

शिष्य वचन आदर करी निराकार महँ होई ।
कहत परम विज्ञान गुरु जासु नास नहिं होइ ॥[32] 112॥

शिष्य के वचन का मान रखते हुए गुरु अपनी निराकार अवस्था में स्थित हुए। फिर उन्होंने उस परम व्यावहारिक ज्ञान को कहना आरम्भ किया जो अनश्वर है, कभी लुप्त नहीं होता ॥ **112** ॥

गुरु शिष्य के इस आग्रह को हल्के से नहीं लेते, वे उसका आदर करते हैं। उसकी जिज्ञासा एक बहुत गहरी उत्कण्ठा से प्रेरित है। उसकी जिज्ञासा का समाधान करने के लिये गुरु को अपने उस स्वरूप का ध्यान करना पड़ता है जो स्वयं उनका भी निर्गुण स्वरूप है। फिर वे अपना उपदेश आरम्भ करते हैं, उस ज्ञान के विषय में जो इतना व्यापक है कि कभी भी नष्ट नहीं होता है।

32 इस पंक्ति का अंतिम शब्द 'होइ', छंद-शास्त्र की मात्रा प्रणाली के अनुसार ह्रस्व या छोटी 'इ' होना चाहिये, जैसा कि लेखक ने यहाँ दिया है। सन् 1965 में छपी विवेकसार की प्रति में यह 'होइ' ही लिखा है। बाद के संस्करणों में इसे 'होई' लिखा हुआ पाते हैं, जो छंद-मात्रा की दृष्टि से अशुद्ध है।

The Guru Speaks

|| Dohā ||

śiṣya vacana ādara karī nirākāra mahã hoī;
kahata parama vigyāna guru jāsu nāsa nahĩ hoi. **112**.

Respecting the disciple's words,
settling into his formless form;
the Guru spoke of the highest wisdom –
which is never lost or gone. **112**.

The Guru listens to the disciple's question and sees the merit in it. His curiosity reveals a deep thirst for knowledge. To respond properly to the disciple, the guru accesses the knowledge, which is a part of his own formless state, and then begins to expound on the subject, revealing insight which is timeless and beyond destruction.

|| चौपाई ||

मन चंचल गुरु कही दिखाई । जाकी सकल लोक प्रभुताई ॥113॥
पवन स्वाँस यह बड़ो संजोगा । सो तौ सब दिन रहै वियोगा ॥114॥
शब्द ज्योति जग सुन्य प्रकासा । समुझत मिटै कठिन भव फाँसा ॥115॥
प्रान निवृत्ति सदा तेहि जानौ । भाव अभाव न एकौ मानौ ॥116॥[33]
ब्रह्म दया संतत मत साँचा । ताप तीन की लहै न आँचा ॥117॥
हंस जासु नहिं होई विनासा । नहिं दुख सुख जहँ एकौ त्रासा ॥118॥
सून्य सो परम सून्य करि देखो । यह विज्ञान बीज दृढ़ लेखो ॥119॥
काल विकाल महा अति भारी । जेहि लखि जीवै आपु विचारी ॥120॥[34]
जीव सो कर्म बंध तर माना । सतगुरु आतम जो नहिं जाना ॥121॥
कर्म बंध गत शिव सत भाँती । दिशा देश नहिं एकौ काँती ॥122॥
व्यापक व्याप्य रहै जो व्यापी । नाम निरंजन तेहि अस्थापी ॥123॥
तहाँ नहीं जब संभव कोई । रहै निरंतर अंतर होई ॥124॥

गुरु ने दिखाया कि चंचल होने के बाद भी मन ही की प्रभुता समस्त संसार में व्याप्त है ॥ **113** ॥ यह जो श्वास है, यह वायु ही है, और यह सदा निस्पृह रहती है ॥ **114** ॥ शब्द वह ज्योति है जो सृष्टि के अंधकारमय शून्य को प्रकाशित कर देती है, इसे समझ या जान लेने से व्यक्ति भव-सागर से मुक्त हो जाता है ॥ **115** ॥ प्राण जन्म-मरण के चक्र से निवृत्त कर देता है, इसे न किसी वस्तु की कमी भासती है, न किसी वस्तु के प्रति आकर्षण या विकर्षण का भाव ॥ **116** ॥ ब्रह्म तो दयालुता की प्रतिमूर्ति हैं, इन त्रिगुणों की अग्नि उन्हें प्रभावित नहीं करती ॥ **117** ॥ हंस वह है जिसका कभी नाश नहीं होता, अमर है, और उसे दु:ख, सुख या किसी प्रकार के भी कष्ट का अनुभव नहीं होता ॥ **118** ॥ शून्य तो केवल शून्य है, उसे शून्य के परिमाण से ही आँका जा सकता है, यही व्यावहारिक ज्ञान का अक्षुण्ण बीज है ॥ **119** ॥ जीवन-मरण, जिसे काल-विकाल भी कहते हैं, दुर्वह होता है, उसे ही देख कर जीव आत्मानुसंधान के प्रति बाध्य होता है ॥ **120** ॥ जीव वह कर्मफल-बद्ध आत्मा है जिसने अभी अपने मुक्तात्मा स्वरूप को, या सद्गुरु की विमुक्त अवस्था को नहीं पहचाना है ॥ **121** ॥ इन्हीं कर्मफल के बंधनों से मुक्त हो जाने पर वह शिव के समान सत्य-स्वरूप हो जाता है, फिर वह दिशा, देश या अन्य किसी भी प्रकार की सीमित आभा से परे चला जाता है ॥ **122** ॥ जो सर्वव्यापक है, वह तो सर्वत्र व्याप्त हैं ही, उन्हीं को निरंजन कहा जाता है ॥ **123** ॥ वही, उस स्थान पर, जहाँ अन्य किसी का भी होना सम्भव नहीं, सदा अपने ही अंतर में वास करते हैं ॥ **124** ॥

गुरु एक-एक करके शिष्य द्वारा गिनाये गये तत्त्वों का उसी क्रम से उद्घाटन प्रारम्भ करते हैं, उनके विशेष चरित्र का अनावरण करके। वे शिष्य को बताते हैं कि इस समस्त सृष्टि में यह मन ही है जो सबसे शक्तिवान् तत्त्व है, लेकिन साथ ही, यह उतना ही अधिक चंचल भी है। पवन, जिसके बारे में शिष्य ने पूछा था, शरीर के बाहर तो हवा है, लेकिन शरीर के अंदर वही निरंतर चलने वाला श्वास है, जिसके श्वास-प्रश्वास का तारतम्य शरीर से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है। उसी से शरीर जीवित रहता है और संसार का बोध कर पाता है। किंतु ऐसा होने पर भी वह अपने आप में इस संसार के आकर्षण क्षेत्र से निर्लिप्त रहता है, उसपर संसार की ऊहापोह का कोई असर नहीं पड़ता। वह अभूत 'शब्द' जो सत्यपुरुष की रचना कल्पना के साथ उत्पन्न हुआ था, वही ज्योति है जो जगत के इस अथाह, अकल्पनीय अंधकार को प्रकाशमान् करता है। इसी को जान लेने से जीव भव-बंधन से छूट जाता है। 'प्राण' वह है जो शरीर में सतत संचरण करता रहता है, शरीर में जीवन का प्रवाह बनाए रखता है, जीव को शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की ओर प्रेरित करता रहता है। किंतु प्राण की अपने आप में, अपने लिये, कोई आवश्यकता या चाह नहीं होती। वह शरीर में होते हुए भी उससे अनासक्त रहता है। इसलिए प्राण सदा मुक्त भी रहता है और स्वतंत्र भी।

33 काया में उपस्थित कुछ अवयवों की भाव अथवा अभाव से परे होने की बात बौद्ध सिद्धों की वाणियों में भी मिलती है। देखें चतुर्वेदी 1969, 155 सं. 1, "भाव न होइ अभाव न जेए"। इसकी व्याख्या करते हुए चतुर्वेदी लिखते हैं कि श्वास नियंत्रण से शून्य की एक ऐसी अवस्था प्राप्त होती है "जिसे न तो भाव कह सकते हैं और न अभाव ठहरा सकते हैं" (चतुर्वेदी 1969, 59-60)।

34 तु. नाथ सिद्धों की बानियाँ, बाल गुंदाई जी की सबदी (4) - "नांम अछै आकार बिरुंणां । सतिकृत्सम न लागा ॥ त्रिवधि बिंदनि लेग निरालंबा काल विकाल दोइ भागा ॥" (द्विवेदी 1978, 54 सं. 17) तु. गुरु-ग्रंथ साहिब, "त्रै वरताइ चउथै घरि वासा ॥ काल बिकाल कीए इक ग्रासा॥ निरमल जोति सरब जगजीवनु गुरि अनहद सबदि दिखाइआ ॥४॥" (बिकाल = (काल के विपरीत) जन्म)। http://www.gurugranthdarpan.net/hindi/1038.html.

|| caupāī ||

mana cañcala guru kahī dikhāī; jākī sakala loka prabhutāī. **113**.
pavana svẽsa yaha baṛo sãjogā; so tau saba dina rahai viyogā. **114**.
śabda jyoti jaga sunya prakāsā; samujhata miṭai kaṭhina bhava phẽsā. **115**.
prāna nivṛtti sadā tehi jānau; bhāva abhāva na ekau mānau.[43] **116**.
brahma dayā santata mata sẽcā; tāpa tīna kī lahe na ẽcā. **117**.
haṁsa jāsu nahĩ hõī vināsā; nahĩ dukha sukha jahã ekau trāsā. **118**.
sūnya so parama sūnya kari dekho; yaha vijñāna bīja dṛṛha lekho. **119**.
kāla vikāla mahā atibhārī; jehi lakhi jīvai āpu vicārī.[44] **120**.
jīva so karma bandha tara mānā; satguru ātama jo nahĩ jānā. **121**.
karma bandha gata śiva sata bhẽtī; diśā dēśa nahĩ ekau kẽtī. **122**.
vyāpaka vyāpya rahe jo vyāpī; nāma nirañjana tehi asthāpī. **123**.
tahẽ nahĩ jaba sambhava koī; rahai nirantara antara hoī. **124**.

The mind is fickle, the guru explains; all through the world its power reigns. **113**.
The air, in the body is united as breath; from the world, it remains ever disengaged. **114**.
The light of the Word lights the void of the world; knowing it erases the cruel snare of the world. **115**.
Know the vital breath to be always free; beyond being or not, there's nothing it needs. **116**.
Brahman's mercy has no end it is true; it doesn't take the heat from the three attributes. **117**.
Haṁsa (Soul) is beyond destruction; it feels no grief, happiness or perturbation. **118**.
See the Supreme Emptiness as the Void; this seed of wisdom should be firmly inscribed. **119**.
Death and birth are very burdensome; live in reflection of this wisdom. **120**.
Under past action's effect is the embodied soul; ignorant still of the Self, the true guru. **121**.
Shiva reigns past the bond of actions; no direction, majesty, or region limitations. **122**.
That pervasive, permeable presence that encompasses the world; its name is ascribed as the Imperceptible God. **123**.
When none other is possible at that place; it remains eternally in its internal state. **124**.

The Guru answers one by one each of the questions in the order that the disciple has asked. He shows to the disciple that the mind is the most powerful entity in the world, but it is also the most restless in its predisposition.

43 The idea of certain states achieved within the body which are beyond a physical state of either existing or not existing is evident in the poems of the Buddhist siddhas. See *Caryāpad*, no. 29 *Rāg Paṭamanjarī Luipādānām*, "*bhāva na hoi abhāva na jāi*" (Chaturedi 1969, 155 v. 1). Chaturvedi explains that according to Buddhist *siddhas*, this refers to a void-like state reached by breath control which can neither be called the presence of something, nor can it be deemed the absence of something (1969, 59-60).

44 Simply put, *kāl vikāl* refers to a state beyond either birth or death. To compare, see Dwivedi 1978, 54 v. 17. Another example is evident in the *Guru Granth Sahab*. See `http://www.gurugranthdarpan.net/hindi/1038.html`.

सभी संतों में मतैक्य है कि ब्रह्म, जो इस संसार के रचयिता हैं, परम दयालु हैं। उनकी करुणा का कोई ओर-छोर नहीं है। चूँकि वही इस सृष्टि रचना की स्रोत-पृष्ठभूमि हैं, उन पर सत्त्व, रजस, और तमस, इन त्रिगुणों का भी कोई असर नहीं होता।

शिष्य ने 'हंस' के बारे में भी पूछा था। कोई सामान्य व्यक्ति यदि शरीरपात का परिणाम देखे तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि अब सब कुछ नष्ट हो गया, अब कुछ भी नहीं बचा। लेकिन सत्य ऐसा बिल्कुल नहीं है। इसी शरीर में जो 'हंस' विद्यमान है, जिसे आत्मा की प्रतिच्छाया कहा जा सकता है, नष्ट नहीं होता। जीव में जो हंस स्थित है वह नाशवान् नहीं है, वह अनंत है। इस हंस का चरित्र ऐसा है कि वह मन की चंचलताओं और इंद्रियों की लोलुपता से मुक्त रहता है, इसलिये हर परिस्थिति में सम-सामान्य बना रहता है। उसे जीवन में घटनेवाले दुःख अथवा सुख जैसी किसी भी अवस्था का अनुभव नहीं होता। यह सारी सृष्टि एक अथाह शून्य में उत्पन्न हुई है, उसी में बनी हुई है, और अंततः उसी में विलीन हो जाती है। इसे जाना तो जा सकता है, लेकिन केवल अनुभव से। एक बार इसे जानने की कला आ जाए तो जीव का जन्म सिद्ध हो जाता है।

शरीरधारी जीवों के लिये जन्म-मरण का अनुभव दुखदायी होता है। इंद्रियों के माध्यम से जीव जिस सुख का अनुभव करता है वह तो क्षणिक होता ही है, उस सुख के अंत हो जाने का विचार भी दुःख को जन्म दे देता है। साधुपथ पर चल रहे किसी भी साधक को इन बातों के विषय में गहराई से सोचना पड़ता है। जीवन में होनेवाले सुख-दुःख के अनुभव भूत या वर्तमान काल के कर्मों का फल हो सकते हैं। जीवन में इस काल का चिंतन स्वस्थ अंतर्दृष्टि प्रदान कर सकता है। शरीर में जी रहा कर्म-बद्ध जीव तभी तक इन सुख-दुःख से विचलित होता है जब तक कि वह अपने सही रूप का ज्ञान प्राप्त न कर ले। वह आत्मा ही उसका सत्य-रूप है, और वही उसका सच्चा गुरु भी है। उसका ज्ञान न होने के कारण ही जीव जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसा रहता है। परंतु एक बार जब उसे अपने इस सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब वह कर्म-बंधन से मुक्त होकर शिवत्व की ओर बढ़ जाता है जहाँ न देश की सीमा है, न दिशा की, न कांति की, न सत्ता की। वह शिवत्व की उस अवस्था में इन सभी वस्तुओं से उपराम हो जाता है। अब वह उस निरंजन, यानी अदृश्य ब्रह्म पद के समीप, आने लगता है जो सृष्टि का रचयिता होते हुए भी अलक्ष्य है। निरंजन का चरित्र ऐसा है कि वह अपने अभ्यंतर में ही खोया रहता है। चूँकि वह समय-काल के बंधन में भी नहीं है, उसकी यह अवस्था अनंतकालिक होती है।

The incessant chain of breaths that continues without interruption is very well integrated with the body. But paradoxically, despite such wonderful integration, it always remains detached from the world.

It is the 'Word' – the primordial sound that came with the first desire of the True Being – that illuminates the vast empty space/s of the world. The vital breath or the life-force is in continuous motion, maintaining life in the body, and thus the living body has needs which need to be fulfilled to keep it alive. But the life-force or the vital air itself has no needs or wants for itself, it is transcendent to it, consequently it always remains free.

All the saints have mentioned that *Brahman*, the creator of the universe, is most compassionate. Also, it is not perturbed by the elements that constitute the world and therefore, the three attributes the *sattva*, *rajas*, and *tamas*, also do not bother it. The Soul or *Haṁsa* of the sentient being is eternal. A casual observer might think that everything is gone once the body is dead, but that is not true of the *Haṁsa* or the Soul. Since it is free of the sense desires which are dictated by the mind, it also remains unmoved in every situation, not experiencing either grief or joy by whatever happens in life.

The void is the supreme emptiness where arises all creation. This void is something that can only be known about through experience. The facts of birth and death of the body are painful experiences. The senses may portray certain facts of life as happy, but even those moments are transitory, and even the thought of the passage of a happy event in itself gives rise to sorrow. An ascetic on the path of knowledge needs to dwell on this fact and reflect deeply. These joys and sorrows of life occur as a result of the actions or karma performed by the individuals in their past or present lives. A sentient being or the embodied soul is swayed by these joys and sorrows only till such time that it does not know the real nature of its own soul.

The soul is the true guru for the sentient being, an ignorance of it keeps the being trapped in the cycle of this world. However, once the sentient being realizes that its own soul is its true guru, and realizes the true nature of itself as a soul, it becomes free from the karmic bonds of the actions performed. Then it moves towards becoming like Shiva who is not limited by any direction, region or attributes such as power or beauty. It transcends them. *Nirañjan*, literally, 'without collyrium', is how some people address that entity who has created this world and is, verily, the God who remains invisible and imperceptible. That state of the imperceptible God is such that it remains absorbed within itself, and since it is beyond time, this state of it is eternal.

|| दोहा ||

अमर बीज विज्ञान को कह्यौं समुझि कर लेहु ।
ऊँ सो मंत्र विचारि के राम नाम चित देहु ॥125॥

हे शिष्य, तुमसे विज्ञान के इस अमर बीज का निरूपण किया, इसे ध्यान से समझकर ग्रहण करो। 'ऊँ सो' (सोऽहं का प्रतिरूप?) मन्त्र का सतत विचार करते हुए, राम के नाम में दत्तचित्त रहो ॥ **125** ॥

अपना उपदेश समाप्त करने के बाद गुरु शिष्य से कहते हैं कि देखो, मैंने अब तुमको बता दिया ये तत्त्व क्या-क्या हैं, और इनका चरित्र कैसा है। यह ज्ञान एक अनश्वर बीज के जैसा है जिसका कभी अंत नहीं होता है। यह ज्ञान शिष्य को आध्यात्मिकता की और गहराई में ले जाएगा। इसलिये वे कहते हैं कि हे शिष्य, अब तुम इस ज्ञान पर मनन कर के आत्मसात कर लो। साथ ही, 'ऊँ सो' मंत्र का जप करते हुए उस ईश्वर का, जिन्हें उन्होंने राम नाम से सम्बोधित किया है, निरंतर चिंतन करते रहो।

|| Dohā ||

amara bīja vijñāna ko kahyau samujhi kara lehu;
oṁ so mantra vicāri ke Rāma nāma cita dehu. **125.**

Take the immortal seed of knowledge,
grasp and hold the same;
Reflecting on the mantra '*Om So*',
focus on Ram's name. **125**.

Having answered each term that the disciple had asked about, the Guru concludes – with this exposition I have given you the knowledge of the eternal seed, a kernel which can only grow and become more profound – so, O disciple, understand it and make it your own. Practice the "Om so" mantra and keep your mind absorbed in the name of Ram (as a formless God).

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

अंतरजामी जानि गुरु कहि करि अभय प्रमान ।
संशय सब मम दूरि करि मोंहिं दिखावो ठाम ॥126॥

हे गुरु! आप तो अंतर्यामी हैं। आप मेरे अंतरतम को मुझ से अधिक जानते हैं। कृपा करें, मुझे भय से मुक्ति का साक्षात्कार करा दें। मेरी सभी शंकाओं को दूर कर दें ताकि मुझे पूर्ण ज्ञान हो जाये कि काया कमल में ये विभिन्न अवयव कहाँ विराजते हैं ॥ **126** ॥

शिष्य ने गुरुमुख से शरीर में स्थित सभी तत्त्वों के नाम और वर्णन तो सुन लिये, किंतु अभी भी कुछ है जो बाकी है। अब शिष्य यह जानना चाहता है कि ये तत्त्व शरीर में ठीक कहाँ-कहाँ रहते हैं। यह अभी भी साफ़ नहीं हुआ है। यह जानने के लिये पहले वह गुरु से निर्भयता का आश्वासन माँगता है ताकि वह अपनी जिज्ञासा को आगे व्यक्त कर सके। किंतु इस वाक्यांश का अर्थ यह भी हो सकता है कि शिष्य गुरु से, जो उसकी गूढ़ मन:स्थिति को भली-भाँति जानते हैं, उसे निर्भयता के पद तक पहुँचा दें जहाँ शंका जनित भय हो ही नहीं । फिर वह गुरु से पूछता है कि आप बताइये, ये तत्त्व इस काया में कहाँ-कहाँ पाये जा सकते हैं ताकि उसकी शंकाओं का समाधान हो सके।

The Disciple Speaks

|| Dohā ||

antarjāmī jāni guru kahi kari abhaya pramāna;
saṁśaya saba mama dūri kari mohī dikhāvo ṭhāma. **126.**

I know you are omniscient, O guru,
do grant me the state of fearlessness;
dissipate all my doubts concerning,
where each element in the body rests. **126.**

The disciple has heard the description in the body of all the elements that he had asked about, but there is still something not clear. Now the disciple is curious to know where exactly in the body do all of these entities dwell. So first, he seeks the permission to be fearless from his Guru to pursue this line of questions further. This line, however, can also mean that he knows his guru is fully aware of the disciple's deep psychological state. Therefore, he asks the guru to make him fearless. Then he says to the Guru to tell him the location of each of these elements so that all his doubts are truly dispelled.

|| चौपाई ||

मन कहँ बसै जासु प्रभुताई । सकल लोक कह श्री रघुराई ॥127॥
बसै पवन कहँ कृपानिधाना । ताकहँ हौं चाहत अब जाना ॥128॥[35]
शब्द निवास कहिय करि दाया । अनघ अकाम अमोघ अमाया ॥129॥
प्रान बास की सुधि भगवंता । दीजै भानु भक्ति भय हंता ॥130॥
ब्रह्म बसै कहँ परम उदारा । अभय असोच रहित संसारा ॥131॥
हंस बसै सो थल मोहि स्वामी । कहिय बुझाई जानि अनुगामी ॥132॥
कहाँ अनूप बसै सो भेदा । कहो प्रसन्न प्रगट निज वेदा ॥133॥
काल बसै कहँ सो सब कारन । कहिये संशय शोक निवारन ॥134॥
जीव बास की निर्णय कीजै । अपनो कहि निबाहि प्रभु लीजै ॥135॥
शिव अस्थान सुनावहु मोहीं । त्रिविध ताप तम रवि सम होहीं ॥136॥
पुनि मोहिं कहिय अमित भय भंजन । कहाँ बसत हैं देव निरंजन ॥137॥

वह मन जिसकी सत्ता का गुणगान समस्त लोक करता है, कहाँ वास करता है, हे रघुराई ॥ **127** ॥ हे कृपानिधान, मैं अब यह जानना चाहता हूँ कि पवन कहाँ वास करता है ॥ **128** ॥ उस पवित्र, निष्काम, अचूक और माया रहित शब्द का निवास कहाँ है ॥ **129** ॥ हे दृढ़ भक्ति की प्रतिमूर्त्ति और भय का संहार कर देने वाले प्रकाशमान् सूर्य, हे प्रभु, बताएँ कि प्राण कहाँ वास करता है ॥ **130** ॥ सदा निर्भय, चिंतारहित, संसार में रहते हुए भी उससे पृथक रहनेवाला ब्रह्म कहाँ बसता है, बताएँ, हे परम उदार गुरु ॥ **131** ॥ मुझे अपना अनुयायी मान कर वह स्थान समझाकर बता दीजिये जहाँ हंस वास करता है ॥ **132** ॥ अनूप के निवास स्थान का रहस्य भी, प्रसन्नचित्त होकर अपने ज्ञान के भण्डार से निकाल कर बताएँ ॥ **133** ॥ हे सभी प्रकार की शंका और शोक का निदान कर देने वाले गुरु, बताएँ कि काल कहाँ और क्यों वास करता है ॥ **134** ॥ मुझे अपना मान कर जीव के वास का स्थान स्पष्ट रूप से बता दीजिये ॥ **135** ॥ मुझे उन शिव के निवास का स्थान बताइये, क्योंकि आप त्रिगुणों के गहन अंधकार को सूर्य के प्रकाश बनकर विच्छिन्न कर सकते हैं ॥ **136** ॥ और फिर मुझे बताइये, हे अगणित भयों को नष्ट कर देने वाले गुरु, उनका निवास कहाँ है जिन्हें देव निरंजन कहते हैं ॥ **137** ॥

फिर, पहले की ही तरह, शिष्य न केवल अपने प्रश्न को दुहराता है, वरन् एक-एक कर के उन सभी तत्त्वों का नाम क्रम से गिनाता है जिनके पाये जाने के स्थानों के विषय में उसकी जिज्ञासा है। वह पूछता है – मन, जिसका लोहा सारा संसार मानता है, वह कहाँ रहता है? वह समीर जो शरीर के बाहर पवन है, अंदर भी होता है, लेकिन वह कहाँ होता है? और वह अभूत 'शब्द' जो सब प्रकार से निष्कलंक है, इच्छारहित है, स्वयं-सफल है, वह शरीर में कहाँ निवास करता है? हे गुरु, आप तो साक्षात् भक्ति-भाव के सूर्य सरीखे हैं, सभी प्रकार के भय का नाश करनेवाले हैं, कृपया बताइये कि वह, जिसे प्राण कहते हैं, वह कहाँ वास करता है? हे उदार गुरु, वह ब्रह्म जो संसार में रहते हुए भी एक निर्भीक फक्कड़ की तरह उससे अलग रहता है, वह कहाँ रहता है? मैं तो आपका अपना हूँ गुरु, मुझे बताइये स्वामी कि हंस का निवास-स्थान इस शरीर में कहाँ होता है? अपने इस असीम ज्ञान से मुझे वह अमूल्य निधि दीजिये गुरु, जिससे मैं यह जान सकूँ कि वह, जिसे 'अनूप' की उपाधि से विभूषित किया जाता है, काया में कहाँ होता है? आप सभी प्रकार के शोक और शंकाओं का निवारण करते हैं गुरु, कृपया बताइये कि काल, जिससे समस्त संसार भयभीत रहता है, शरीर में कहाँ होता है? मुझ पर दया करके उद्घाटन कीजिये गुरु, कि वह प्राणी जिसे 'जीव' की संज्ञा दी जाती है, इस काया में कहाँ होता है? आप त्रिगुणों के अंधकार के घुटन वाले ताप को प्रचण्ड रवि के समान बनकर भस्म कर दें, और मुझे बताएँ कि वह जिन्हें 'शिव' नाम से सम्बोधन किया जाता है, कहाँ होते हैं? और फिर, सभी भयों का निराकरण करने वाले गुरु, मुझे बताइये कि वह देव जिन्हें 'निरंजन' कहा जाता है, कहाँ वास करते हैं?

इन ग्यारह चौपाइयों में कीनाराम न केवल काया-कमल के सूक्ष्म अवयवों का वास, स्थान, निवास, थल कुशलता से पूछते हैं, बल्कि काव्य सौष्ठव के दृष्टिकोण से अपने प्रश्नों का तारतम्य इस विधि से क्रमबद्ध रूप में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बाँधते हैं कि अंत में जब वे देव निरंजन का पता पूछते हैं तो सहृदय पाठक को एक बार रोमांच हो आता है! पहले की दस चौपाइयों में वे क्रमशः मन, पवन, शब्द, प्राण, ब्रह्म, हंस, अनूप, काल, जीव, और शिव के निवास के विषय में चौपाई के पहले ही चरण में पूछ लेते हैं, दूसरे चरण में वे या तो अपने गुरु का, या पूछे जाने वाले अवयव के गुण का वर्णन करते हैं। लेकिन अंतिम चौपाई में वे प्रथम चरण में न पूछकर दूसरे चरण में देव निरंजन का पता पूछते हैं, जिससे एक शिखर या गंतव्य के अंतिम चरण तक पहुँच

35 तु. बड़थ्वाल 1960, 189 सं. 25 । देखें परिशिष्ट।

|| caupāī ||

mana kahã basai jāsu prabhutāī; sakala loka kaha śrī raghurāī. **127.**
basai pavana kahã kṛpānidhānā; tākahã haũ cāhata aba jānā.[45] **128.**
śabda nivāsa kahiya kari dāyā; anagha akāma amogha amāyā. **129.**
prāna bāsa kī sudhi bhagavantā; dījai bhānu bhakti bhaya hantā. **130.**
brahma basai kahã parama udārā; abhaya asoca rahita saṁsārā. **131.**
haṁsa basai so thala mohi svāmī; kahiya bujhāī jāni anugāmī. **132.**
kahã̃ anūp basai so bhedā; kaho prasanna pragaṭa nija vedā. **133.**
kāla basai kahã so saba kārana; kahiye saṁśaya śoka nivārana. **134.**
jīva bāsa kī nirṇaya kījai; apano kahi nibāhi prabhu lījai. **135.**
Śiva asthāna sunāvahu mohĩ̃; trividha tāpa tama ravi sama hohĩ̃. **136.**
puni mohĩ kahiya amita bhaya bhañjana; kahã̃ basata haĩ deva nirañjana. **137.**

O Lord where does the mind reside; the whole world says its power presides. **127.**
O merciful, the location of air's home; that is what I now want to learn. **128.**
State with your blessing the Word's abode; selfless, desire-free, unfailing, pure. **129.**
Dwelling of the vital-breath make me aware; O Lord, sun of devotion, destroyer of fear. **130.**
Where does *Brahman* abide O most generous; fearless, carefree, free from the universe. **131.**
The seat of the embodied Soul, O Master; please explain to me as your follower. **132.**
Mystery of where the 'Peerless' resides; let your true wisdom graciously provide. **133.**
Where does 'Time' dwell and its cause; please say, O remover of anxiety and woes. **134.**
Home of the sentient-being please resolve; lord, come through, taking me as yours. **135.**
Tell me the location of Shiva's dwelling; O Sun to the darkness of threefold suffering. **136.**
Tell me then, O destroyer of infinite misgivings; where is the Invisible God's dwelling? **137.**

Not only that, but he also reiterates his question in detail, naming each element and asking the Guru for its location. So, he asks his Guru, where is the location of the mind which is praised by the whole world to be the most powerful entity? What exact place in the body is occupied by that which is known simply as air outside the body, O compassionate Guru? Where exactly is the 'home' of the Word, O merciful, which is so pure, free and selfless? Where is the life-force or the vital air to be found in the body, tell me O Lord, you who are the shining sun of devotion and destroyer of all kinds of fear? Where does the *Brahman* dwell in the body, O most generous, who is the creator of the universe, who remains in the universe yet free from it? What is the location of the soul of the sentient being called the *Haṁsa*, that

45 Comparable to Barthwal 1960, 189 v. 25.5. See Appendix.

जाने का अनुभव होता है। इन्हीं चौपाइयों के आरम्भ में वे पहली बार अपने गुरु को श्री राम के सगुण रूप में, रघुराई कहकर सम्बोधन करते हैं। जो पाठक लोक-प्रसिद्ध उक्ति 'रघुकुल रीति सदा चली आई…' से परिचित हैं, वे जानते हैं कि इक्ष्वाकु वंश के रघु कुल में श्री राम का विष्णु अवतार के रूप में आगमन माना जाता है। रामायण में वर्णित उनकी विलक्षण क्रियाओं के कारण उन्हें रघुराई भी कहा जाता है। निर्गुण माने जाने वाले इस विवेकसार में यह बाबा कीनाराम की राम-भक्ति का एक उदाहरण है।

incomparable divine spark which exists in the body, please tell me O Guru, since I am your follower? Where is the 'Time' located in the body, which is feared by the whole world, and which causes all events to take place, be pleased O Guru, and reveal this mystery to me? What is the home of the embodied soul, please tell me for certain? Please tell me the dwelling of lord Shiva, O Guru, the lord who destroys the woes caused by the three attributes? And finally, O Guru the destroyer of innumerable fears, where in the body is the location of the invisible and imperceptible God?

In these **11** *caupāī* verses Baba Kinaram not only asks with devotion about the home, location, dwelling, abode of the elements in the subtle body, but from the point of view of poetic skill he also weaves the thread of his questions progressively from the subtle to the most subtle in such a way that when he asks about '*Deva Nirañjana*' in the last verse, the attuned reader experiences a culminative thrill. In the previous ten *caupāī* in this series he asks, respectively, about the location or home of the mind, air, the Word, the vital-force, the *Brahman*, the *Haṁsa*, the Peerless *Anūpa*, the Time and death, the sentient being, and the lord Shiva in the first half of the *caupāī*, using the second half to describe or eulogize either his guru or the particular element he is asking about. But in the last *caupāī*, he reverses this order and asks about the God, *Deva Nirañjana* in the second part of the *caupāī*, with special rhetorical emphasis in the final position of the verse in a way that one feels they have arrived at the destination after a long journey. This rhetoric is perhaps a special function of Kinaram's use of *caupāī* meter, as it would be more difficult to achieve the same effect though a sequence of *dohā*s, each of which has an individuality of its own.[46] Also to note is the fact that in the second part of the first *caupāī* of this series, he addresses his guru as '*Raghurāī*', the scion of the lineage of Raghu, which is a name as well as a description of Lord Rama in the epic *Rāmāyaṇa*. This is the first time Baba Kinaram has done so in this text, which is considered a text of the *Nirguṇa* current of devotion, where god is venerated as an entity without a form. Showing reverence to his guru in this very specific human form of lord Rama, well known as the incarnation of lord Vishnu, is an exercise of the *Saguṇa* current of devotion to a god with a form. It also exhibits his devotion to lord Rama himself.

46 I am indebted to Prof. Rupert Snell for this insight into the rhetorical efficacy of the *caupāī*, as used by Baba Kinaram.

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

प्रश्न सुनत ही शिष्य को ज्ञानदेव गुरुदेव ।
कहत भये अतिसय कृपा सत्य सुकृत पद सेव ॥ 138॥

शिष्य के प्रश्न को सुनते ही ज्ञान की प्रतिमूर्त्ति गुरुदेव अपनी असीम कृपा दर्शाते हुए बोले, सत्य और शुभ कर्मों के पद का अनुसरण करो ॥ **138** ॥

शिष्य के इस प्रश्न को सुनकर गुरु अप्रसन्न नहीं हुए। प्रतीत होता है कि उन्हें कदाचित् इसी की आशा थी, क्योंकि प्रश्न सुनते ही वे कहने लगे – सदा सत्य का अनुसरण करो, और सदा अपने को सत्कृत्यों में संलग्न रखो। गुरु के कहने का तात्पर्य शायद यही है कि केवल सैद्धांतिक बातों से वास्तविक ज्ञान उदय नहीं होता, उसके लिये व्यावहारिक कर्म करना भी आवश्यक है।

The Guru Speaks

|| Doha ||

praśna sunata hī śiṣya ko jñānadeva gurudeva;
kahata bhaye atisaya kṛpā satya sukṛta pada seva. **138.**

As soon as the disciple's question
was heard by the Guru, the lord of wisdom;
He said with his exceeding grace,
Follow the truth and virtuous action. **138.**

The Guru is not displeased with the disciple's question at all. As soon as he hears the disciple's question, he provides the disciple with the answers, and tells him to always seek the presence of truth and to follow good actions. The Guru's intention seems to be to point out that unless one acts to bring the experiential knowledge home, mere theoretical knowledge will not do it.

|| चौपाई ||

हृदय बसै मन परम प्रवीना । बाल वृद्ध नहिं सदा नवीना ॥139॥[36]
इंद्री सकल प्रकाशक सोई । तेहि हित बिनु सुख लहै न कोई ॥140॥
पवन बास नाभी परमाना । सहज रुप तेहि कछु नहिं जाना ॥141॥
शब्द अनाहद महँ गृह कीन्हा । जेहि लखि परै आपु तिन्ह चीन्हा ॥142॥
प्रान निरंतर महँ होइ बसई । शुभ अरु अशुभ एक नहिं रसई ॥143॥
बास ब्रह्म ब्रह्माण्ड करंता । हे शिष समुझि लेहु यह तंता ॥144॥
हंस बसे सो कहियत गगना । सदा एक रस आनंद मगना ॥145॥
बास अनुप सून्य कहँ दीन्हा । जतन जुक्ति सों एहि विधि चीन्हा ॥146॥
कमल माँह बस काल दुरंता । तेहि जानत है कोउ कोउ संता ॥147॥
काया महँ बस जीव वियोगी । इंद्रिन्ह सकल विषय रस भोगी ॥148॥
चंद्र माँह शिव बास असंका । रंकार तहँ एकै अंका ॥149॥
देव निरंजन सुषमन माहीं । बसत वस्तु सबही घट माहीं ॥150॥

यह अत्यंत निपुण मन हृदय में बसता है, यह कभी न बालक होता है न वृद्ध, सदा नवीन बना रहता है ॥ **139** ॥ यह सभी इंद्रियों का संचालन करता है, इसकी कृपा के अभाव में कोई सुखी नहीं होता ॥ **140** ॥ पवन का वास नाभि में इंगित है, उसका रुप बिल्कुल सहज होता है, लेकिन शब्दों में वर्णनीय नहीं ॥ **141** ॥ शब्द का निवास स्थान अनंत अनहद नाद में होता है, जिसका सौभाग्य होता है वही उसे पहचान पाता है ॥ **142** ॥ प्राण अनवरोध शरीर में व्याप्त रहता है, वह शुभ अथवा अशुभ, किसी भी वस्तु का रस नहीं लेता ॥ **143** ॥ ब्रह्म का निवास ब्रह्माण्ड में होता है, हे शिष्य इस तंत्र के विधान को भली-भाँति समझ लो ॥ **144** ॥ हंस गगन में अवस्थित है, वह सदा आनंद के एक ही रस में निमग्न रहता है ॥ **145** ॥ अनूप का वास शून्य में कहा गया है, बहुत प्रयत्न करने, युक्ति लगाने की विधि से, उसे पहचाना जा सकता है ॥ **146** ॥ दुस्तर काल का वास कमल में होता है, उसे लाखों में कोई एक संत ही जान पाते हैं ॥ **147** ॥ अपने आप से पृथक जीव का वास शरीर के अंदर ही होता है, वही अपनी इंद्रियों के माध्यम से सभी रसों का स्वादन करता है ॥ **148** ॥ शिव का वास चंद्रमा में नि:शंक रुप से होता है, वहाँ केवल "रं" अक्षर की प्रतिध्वनि गूँजती रहती है ॥ **149** ॥ देव निरंजन स्वयं सुषुम्ना (नाड़ी) में वास करते हैं, इस प्रकार ये सभी वस्तुएँ इस नश्वर काया में ही विराजती हैं ॥ **150** ॥

अब गुरु क्रमानुसार शिष्य के प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ करते हैं। वे बताते हैं कि मन का निवास-स्थान हृदय में होता है। यह मन ही है जो सभी इच्छाओं को संचालित करता है और सभी इंद्रियों को अपने निर्देशानुसार कार्य करने को प्रेरित करता है। जब तक कि यह मन किसी साधक के अनुकूल नहीं हो जाता, उसका आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति करना कठिन है।

पवन का निवास, जो शरीर के भीतर श्वास है, नाभि केंद्र में होता है। यह वही बिंदु है जहाँ कि गर्भस्थ शिशु अपनी माता से जुड़ा होता है, और यहीं से इस पवन का संचालन प्रारम्भ हो जाता है। लेकिन इसके अतिरिक्त किसी और विधि से इसका वर्णन करना असम्भव है।

शरीर में स्थित शब्द का स्थान अनाहत नाद में होता है, जिसका स्पंदन काया में स्वयंमेव निरंतर चलता रहता है। कुछ विद्वान इस अनाहत नाद को 'सोऽहं' मानते हैं, क्योंकि श्वास के प्राकृतिक आवागमन की प्रक्रिया में यही अस्फुट ध्वनि उत्पन्न होती है।[37] वह जो प्राण-वायु है वह शाश्वत रुप से सर्वत्र व्याप्त रहती है। किंतु इतनी व्यापक होने पर भी वह मन तो नहीं है न, इसलिये उसे संसार और सांसारिकता के शुभ-अशुभ व्यवहारों से कुछ भी लेना-देना नहीं होता है।

सृष्टि के रचयिता ब्रह्म का निवास ब्रह्म-अंड यानी 'ब्रह्माण्ड' में होता है, और गुरु शिष्य को बल देकर कहते हैं कि वह इस 'तंत्र' को ठीक से समझ ले। यह कथन विचारणीय है। सिर उठाकर ब्रह्माण्ड के प्रतीक आकाश की ओर देखने से, या चित्र रुप में उसके नक्शे को देखने से भी, वह एक गोल पात्र, एक कटोरे के रुप में दिखता है। एक ऐसा कटोरा जो उल्टा हुआ है। ऐसा ही एक कटोरा मानव शरीर में भी है, और वह है मस्तक में कपाल का सबसे ऊपरी भाग। तंत्र, और शरीर में चक्रों का अनुसरण करने वाली परम्पराएँ, मानती हैं कि सृष्टि के स्रष्टा का निवास इसी कपाल पात्र के भीतरी भाग में स्थित सहस्रदल कमल, या सहस्रार में होता है। गुरु शिष्य को इसी स्थान का इंगित करते प्रतीत होते हैं, इसीलिये वे कहते हैं कि शिष्य इस तंत्र को भली-भाँति समझ लो।

36 तु.बड़थ्वाल 1960, 189 सं. 26। देखें परिशिष्ट।

37 देखें खरे 1935, 387-403।

|| caupāī ||

hṛdaya basai mana parama pravīnā; bāla, vṛddha nahĩ sadā navīnā.[47] **139.**
indrī sakala prakāśaka soī; tehi hita binu sukha lahai na koī. **140.**
pavana bāsa nābhī parmānā; sahaja rūpa tehi kachu nahĩ jānā. **141.**
śabda anāhada mahã gṛha kīnhā; jehi lakhi parai āpu tinha cīnhā. **142.**
prāna nirantara mahã hoi basaī; śubha aru aśubha ek nahĩ rasaī. **143.**
bāsa brahma brahmāṇḍa karantā; he śiṣa samujhi lehu yaha tantā. **144.**
haṁsa base so kahiyata gaganā; sadā eka rasa ānanda maganā. **145.**
bāsa anūpa sūnya kahã dīnhā; jatana jukti so ehi vidhi cīnhā. **146.**
kamala māhã basa kāla durantā; tehi jānata hai kou kou santā. **147.**
kāyā mahã basa jīva viyogī; indrinha sakala viṣaya rasa bhogī. **148.**
candra māhã Śiva bāsa asaṅkā; rarańkāra tahã ekai aṅkā. **149.**
deva nirañjana suṣamana māhĩ; basata vastu sabahī ghaṭa māhĩ. **150.**

Heart is the adept mind's abode; ever anew, it never gets old. **139.**
It is the one that illuminates all senses; without its grace none find happiness. **140.**
The breath resides verily in the navel; its form is natural, what else to unravel. **141.**
In the unstruck sound the 'Word' resides; one who has the fortune to perceive can recognize. **142.**
The vital-air dwells in the eternal state; impervious to good or evil acts. **143.**
The *Brahman* resides in the cosmic egg; O disciple, understand this tantra subject. **144.**
The 'swan' resides in the sky; ever absorbed in constant joy. **145.**
The splendid one gives its address in the void; only with effort and skill recognized. **146.**
The endless Time dwells in the body-lotus; one in a million saints gets to know it. **147.**
The body is the pining sentient being's abode; all its senses relish the pleasures of the world. **148.**
The fearless Shiva inhabits the moon; sound of the '*raṅ*' letter is its only tune. **149.**
The Invisible God is in the *Suṣumnā* vein; in the pot of the body, thus, everything remains. **150.**

The Guru then goes on to explain to the disciple the location of each of these entities, in the order in which he has been asked. He tells the disciple that the mind (which also rules desire) rests in the heart, remains ever young, gives all the senses their direction, and unless this mind is made favorable, the likelihood of a seeker achieving success in their quest is little. The location of the breath, which had its incipient beginning even in the womb, is verily in the navel, the point where the child was connected to the mother. But it is just about impossible to describe it in any meaningful way. The 'Word' is present in the body, and it is located right in the 'unstruck sound' that vibrates within the body. Many thinkers state this unstruck sound to be *so`haṁ*, the natural sound made by the breath as it goes in and out of

47 Comparable to Barthval 1960, 189 v. 26. See Appendix.

तांत्रिक परम्पराओं में हंस, या शरीरधारी जीव के अनश्वर अंश का निवास भी इसी कपाल पात्र में माना जाता है, और गुरु भी ऐसा ही बताते हैं। वह, जिसे 'अनूप' की संज्ञा दी गई है, वह शून्य में रहता है (लेकिन उसका भी स्थान कपाल के इसी बिंदु में माना जाता है), किंतु युक्तियुक्त प्रयास करने से उसे जाना जा सकता है। अंतहीन काल का निवास कमल में, अर्थात इसी चक्र-सम्बंधित सूक्ष्म शरीर में होता है, लेकिन इसको जान पाना अतिशय कठिन है क्योंकि संतों में भी कोई-कोई ही इसे जान पाता है। जीव, जो अपने आध्यात्मिक रुप से अनभिज्ञ रहता है, शरीर में ही वास करते हुए इंद्रियों के अधीन रहता है। इसलिये यह संसार के सुख-दु:ख को भोगता रहता है।

शिव का निवास चंद्र में निर्धारित किया गया है, जो, पुन:, सूक्ष्म-शरीर का ही द्योतक है क्योंकि मस्तक के शीर्ष भाग में सहस्रार के ठीक नीचे 'सोमचक्र' की उपस्थिति कही गई है जिसकी सोलह पंखुड़ियाँ हैं, और जो 'रं' मंत्र के स्पंदन से गूँजता रहता है। देव निरंजन की उपस्थिति को सुषुम्ना नाड़ी में दौड़ती शक्ति में पाया जा सकता है। इस नाड़ी का स्थान मेरुदण्ड के ठीक मध्य में होता है। इस प्रकार गुरु दर्शाते हैं कि ये सभी अवयव इस काया में कहाँ-कहाँ उपस्थित हैं।

the body (see Khare 1935, 387-403). The life-force or the vital-breath is all pervasive in an eternal manner, and despite being so pervasive, it is not the mind, and therefore it has no concerns with good or evil deeds of the world. The *Brahman*, the creator of the universe, resides in the cosmic egg, and the Guru asks the disciple to understand well this 'Tantra'. This statement is significant. Looking Up at the sky – a cosmic representation of the *Brahmāṇḍa* or the universe – or even its graphic representation in a map of the stars, it appears like a bowl. An inverted bowl. A similar bowl exists in the human body, and that is the top part of the head, the cranium. In traditions that follow Tantra and notions of the *cakras* in the subtle body, the creator is present in a thousand petaled lotus in the *sahasrār*, the top part of the cranium. That, probably is the location the Guru is pointing out to the disciple, and he specifies that he should understand this Tantra doctrine well.

The *haṁsa* (lit. 'swan') or the embodied soul also resides in the so-called sky of this bowl that is the cranial vault according to Tantric traditions, and the Guru mentions the same. The Splendid, incomparable one has its place in the void (again of the state transcendent to the mind in the cranial vault), and yet, one can get to perceive it only with some effort and skill in means. Time, the eternal one, is to be found in the lotus within the body – the reference here being to the subtle body – and yes, it is difficult to get to know because even amongst the saints, very few know it well. The sentient being, not united with its divine self, dwells in the body and is ruled by the senses, finds joy and sorrow in the endless world of pleasure or the lack of it. Shiva resides in the moon, which is again a reference to the subtle body since just below the *sahasrār* at the top of the crown is the '*somacakra*' (moon-circle) which is sixteen petaled and resonates with the vibration of the mantra "*raṁ*" (see Khare 1935, 387-403). The imperceptible God can be detected in the flow of the energy of the *Suṣumnā* vein which lies in the center of the spinal column in the subtle body. In this way, says the Guru, all these entities dwell within the body.

|| दोहा ||

यह अध्यातम परम से समुझे ते सुख होत ।
यह गहि सुदृढ़ विचार लै चित्त प्रकाश उद्योत ॥151॥

अध्यात्म की इन उच्चस्थ बातों को समझ लेने से अपार सुख का अनुभव होता है। समझकर, इसे दृढ़ता से अपनाकर चित्त में प्रकाश की दीप्ति उजागर कर लो ॥ **151** ॥

अपना प्रवचन समाप्त करने के बाद गुरु शिष्य को बताते हैं कि यही परम अध्यात्म का ज्ञान है, इसी को जानने से महान सुख की उपलब्धि होती है और व्यक्ति एक दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है। इस ज्ञान को यदि पूरी तरह से जानकर आत्मसात कर लिया जाए तो निस्संदेह साधक को अपार हर्ष और आनंद की अनुभूति होती है। इसलिये वे शिष्य से पुनः कहते हैं कि इस विचार को दृढ़ता से ग्रहण करके अपने चित्त में प्रकाश का संचरण होने दो।

|| Doha ||

yaha adhyātama parama se samujhe te sukha hota;
yaha gahi sudṛṛha vicāra lai citta prakāśa udyota. **151**.

Understanding this supreme mysticism
Brings joy (which is also divine);
Holding this thought firmly,
Let the radiance of light fill the mind. **151**.

Having finished his discourse the Guru explains to the disciple that this constitutes the supreme element of mysticism. It is verily what leads to a divine state. Even comprehending this knowledge in its fullness accords a state of great happiness to the seeker. So, he tells the disciple, hold this thought firmly and let your mind become illuminated.

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

द्वादश पल अनुमान करि शिष्य सहज आनंद ।
पुलकित प्रफुलित बचन बर बोल्यौ हत जगद्वंद ॥ 152॥

बारह पलों तक शिष्य अनुभव-गम्य हो जाता है, फिर आनंदानुभूति के अतिरेक से प्रफुल्लित मुद्रा में कहता है, अब मेरे लिये जगत के द्वन्द्व का अंत हो गया ॥ **152** ॥

गुरु से कुछ और कहने के पहले शिष्य कुछ क्षणों के लिये रुकता है। वह बारह पलों तक गुरु के बताए कथन पर विचार करता है। किंतु यह केवल विचार नहीं है, वह गुरु के शब्दों को लेकर अनुभव की एक ऐसी अवर्णनीय यात्रा पर निकल जाता है जिससे उपराम होने के बाद गुरु की वाणी के सत्य को जानकर उसका मुखमंडल खिल उठता है। प्रसन्नता से पुलक कर वह कहता है कि हाँ, अब मुझमें जो जगत का द्वंद्व विद्यमान था, वह नष्ट हो चुका है। यहाँ बारह पलों को रेखांकित करना उचित जान पड़ता है। वैसे तो कुण्डलिनी शक्तियोग में अनाहतचक्र में 12 दल या पंखुड़ियाँ गिनाई गई हैं (खरे 1935, 390) जिन्हें आकाश का प्रतीक कहते हैं, लेकिन यहाँ बाबा कीनाराम ने शिष्य की अवस्था दर्शाने के लिये 'दल' नहीं 'पल' शब्द का प्रयोग किया है। तो सम्भव है कि शिष्य ने बारह पलों में ही आंतरिक आकाश का अनुभव प्राप्त कर लिया हो। इस विचार की पुष्टि स्वच्छंदतंत्र से होती है जहाँ कहा गया है,

हृदय (= नाभि) से लेकर ऊर्ध्व द्वादशांत पर्यंत प्राण का प्रवाह दिन कहलाता है। उसमें रहने वाला (साधक) 'दिनस्थ' होता है। बिना किसी अनुसंधान के अपानवृत्ति से प्रवेश कर मंत्र को अंदर रखते हुए ऊर्ध्व प्राणांत में विश्राम करते हुए जप करना चाहिये... जब नाद व्योम (=ऊर्ध्व द्वादशांत) में प्राप्त होकर (= पहुँच कर) पुन: लौट जाता है तो उसे रात्रि जाननी चाहिये। जब वह प्राण हृदयकमल तक आ जाता है तब सर्वसिद्धिफल को देने वाली वह सृष्टि कही जाती है। (चतुर्वेदी 2005 प्रथमो भाग, 118)

बारह पलों तक ऐसा अनुभव करने के बाद शिष्य आश्वस्त हो जाता है कि अब सत्य ही इस संसार का झगड़ा-झंझट उससे दूर हो गया है।[38]

38 इस दोहे में 'द्वादश पल' का संदर्भ कुछ अस्पष्ट रह जाता है क्योंकि योग-तंत्र के अन्य ग्रंथों में काया परिचय के संदर्भ में चक्र, नाड़ी, चंद्र, सूर्य, इन सब अवयवों का उल्लेख तो होता है, लेकिन समय का उतना नहीं। अघोर और नाथ परम्परा में मस्तक से 12 अंगुल ऊपर तक सहस्रार की उपस्थिति मानी जाती है। श्वास नियंत्रण से इसका अनुभव किया जा सकता है। किंतु द्वादश संख्या का उल्लेख गोरख-बानी में भी कई स्थानों पर, कई अर्थों में मिलता है। उदाहरण के लिये सबद 89 में "बारह कला सोषै सोलह" मूलाधार में स्थित सूर्य की 12 पंखुड़ियों का द्योतक है। सबद 93 में "षोडस नाड़ी चंद्र प्रकास्या द्वादस नाड़ी मांनं" का अर्थ षोडश कला वाली नाड़ी (इला) में चंद्रमा का प्रकाश है, द्वादश वाली (पिंगला) में भानु का। सबद 116 में "द्वादस अंगुल गगन घरि मेलं" का इंगित नासिका से बाहर 12 अंगुल तक प्राण-वायु की उपस्थिति है। किंतु यहाँ विवेकसार की तरह 12 पलों का उल्लेख नहीं है। इसलिये यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि बाबा कीनाराम ने सोच-समझकर ही अपने दोहे में 'दल' के स्थान पर 'पल' का प्रयोग किया है। ऐसा इसलिये सम्भव है कि काश्मीर की शैव परम्परा में शरीर के भीतर ही इस प्रकार की साधना करने का विस्तृत विधान स्वच्छंदतंत्र इस्त्यादि जैसे ग्रंथों में है, जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं। इस विधि से, सम्भव है, वे अपनी परम्परा को भी इंगित कर रहे हों।

The Disciple Speaks

|| Doha ||

dvādaśa pala anumāna kari śiṣya sahaja ānanda;
pulakita praphulita bacana bara bolyau hata jagadvanda. **152.**

The disciple reflected for twelve moments,
And then in transcendent joy;
Said with an enraptured smile
That the world's strife is now destroyed. **152.**

The disciple does not respond immediately. For twelve moments he goes through the experience of what the Guru has told him, and then experiences supreme joy on discovering the veracity of it. These twelve moments are not an arbitrary number here. Callewaert (2009) mentions that the phrase '*dvādaśa dal*' implies twelve petals, which is how many petals are in the *anāhat cakra*, and they signify '*ākāśa*' which is empty space at or near the *sahasrāra* in the sacred subtle body. So, it is possible that for twelve units of time the disciple sojourned in the sky-space of the subtle body, and discovered what his Guru had indicated he would find there. This idea is further strengthened by an account from the *Svacchandatantram*, which mentions that

> the flow of the Prāṇa up for 12 digits from the region of the heart (navel) is called its day. The person who remains in that space while meditating is a day-practitioner. Without searching for anything the meditator should perform their jap with the exhalation at the higher end of the Prāṇa… the nād (the first sound present in the body) goes into the sky (of the subtle body) to a distance of twelve instances, and returns from there it should be considered the night. When it comes to the heart-lotus, it signifies a period that bequeaths all beneficial tidings. (Chaturvedi 2005 Part 1, 118)

Having experienced for twelve instances this supreme joy, the disciple realizes he has transcended the petty cares and troubles of the world.[48]

48 The number of twelve moments is intriguing in this verse because in Yoga-Tantra texts, generally, elements like the *cakra*s, the *nāṛī*s, the Sun, the Moon etc. are mentioned, but not necessarily Time. In yoga traditions the idea of the *sahasrāra* extending to a distance of 12 digits over the cranium exists, and it can be experienced through breath control. But the number 12 is frequent also in *Gorakh-Bānī*, with nuanced connotations. For example, in Djurdjevic and Singh's translation, *Sayings of Gorakhnāth*, *sabad* 89 says "the twelve digits dry and the sixteen digits nourish" where "the 12 digits refer to the Sun and the related cakra or the conduit of subtle energy within the body". *Sabad* 93 has "And the Sun is in the twelve nārīs", referring to the right channel *piṅgalā* related to the Sun. *Sabad* 116, "There is a meeting in the house of the sky at the distance of twelve fingers" indicates the persistence of the vital breath till 12 digits outside of the nose. But unlike the *Viveksār*, *Gorakh-Bānī* does not mention 12 'moments'. With that in mind, it seems that Baba Kinaram may have used the word 'moment' instead of 'petals' in a well thought-out way. This is because in the Kashmir Shaiva tradition, concepts of meditation within the body in this manner are very common in texts like the *Svacchandatantram*, as we have just read above. As the name implies, that one is a Tantra text, and Baba Kinaram may be giving a clue to his tradition with this subtle shift.

सुखमनि हृदय आदि दै जपै नाहिं आकार ।
तबै निरंजन मन कहाँ हतो सो कहहु विचार ॥153॥

सुषुम्ना नाड़ी में प्राण प्रवाह के साथ जप को हृदय में एकीकार कर देने के बाद मंत्र का एक स्पंदन मात्र शेष रहता है, कोई आकार नहीं। ऐसी स्थिति में निरंजन के मन की क्या स्थिति होती है, इस पर अपना विचार बताइये ॥ **153** ॥

शिष्य के मन में एक नई जिज्ञासा का अंकुर फूटता है। वह गुरु से कहता है कि ध्यान की अवस्था में जब साधक सुषुम्ना नाड़ी और हृदय को शून्य की स्थिरता से एकीकार कर देता है, तो उस समय शून्य होने के कारण किसी आकार आदि पर तो ध्यान किया नहीं जा सकता। शून्य में तो न कोई आकार होता है न रंग न ध्वनि न स्पंदन, कुछ भी नहीं। इसके अतिरिक्त, उस आदि स्रोत से उसका एकात्म भी बहुत सघन होता है जहाँ विचार प्रस्फुरण भी सम्भव नहीं। तो फिर उस अदृश्य, अलक्ष्य सत्यपुरुष, उस प्रभु से एकात्म होने पर उनके मन का क्या चरित्र होता है, उसके बारे में कैसे जाना जा सकता है?

ध्यान की जिस अवस्था का इंगित बाबा कीनाराम इस दोहे में कर रहे हैं, उससे मिलता जुलता वर्णन स्वच्छंदतंत्रम् की व्याख्या में भी मिलता है –

साधना के संदर्भ में प्रणव प्राण साम्य ग्रहण कर लेता है। सुषुम्ना में प्राणदण्ड बन जाता है। मध्य का विकास होने लगता है। चिदानंद की सुधा से साधक सिक्त होने लगता है। जप प्राण के स्वाभाविक उच्चार में स्वत: सम्पन्न होने लगता है । (मिश्र 2002 प्रथमो भाग, 200)।

sukhamani hṛdaya ādi dai japai nāhĩ ākāra;
tabai nirañjana mana kahã̃ hato so kahahu vicāra. **153**.

When the seeker's *Suṣumnā* and the heart unite in meditation,
There remains no form to chant upon;
What becomes of the mind of the Imperceptible God then,
Please let me know your thoughts. **153**.

The disciple, however, still has a curiosity. He mentions that at the moment of merging the *Suṣumnā* vein with the heart and original stillness of the void a practitioner does not, or cannot, meditate on a form. That is because in that stage, there is no form to mediate upon, and the unity of the practitioner with the original source is extremely intimate. But, in this state of absolute stillness, where is the mind or the thought of the imperceptible God, the True Being, the infinite consciousness that has made all this creation possible?

The state of deep meditation that Baba Kinaram is referring to is similar to the description found in the commentary of the *Svacchandatantram*. We provide a translation here:

> In the context of meditative practice, *Praṇava* becomes like the vital-breath (*Praṇa*). In the *Suṣumnā* vein a channel for this vital-breath develops. The middle begins to grow. The seeker begins to become soaked with the ambrosia showering from that source of eternal joy. The chanting of the mantra begins to happen itself in the natural resonance of the vital-breath. (Mishra 2002 Part 1, 200)

जीवन उद्भव सहित कहि पुनि कहँ रहै सकाइ ।
ज्ञान राय गुरु सहित तहँ दीजे मोहि लखाइ ॥154॥

उनका आविर्भाव कैसे हुआ, उनका जीवन किस प्रकार का है, यह सब मुझे बताइये, और यह भी कि उनकी उपस्थिति कहाँ बनी रही। हे ज्ञान सम्राट गुरु, आप अपनी उपस्थिति के साथ ही मुझे उनका वह स्थान दिखा दीजिये ॥ **154** ॥

शिष्य जानना चाहता है कि उस परम चेतना का मन, या उसमें विचार का उद्भव कहाँ और कैसे हुआ होगा। क्या ऐसा होने के पहले वह अचेतन और निष्क्रिय था और बाद में चैतन्य और क्रियाशील हो गया? अपनी इस आत्म-चेतना की जागृति के पहले वह कहाँ था? वह क्या कारण था जिसके चलते वह निष्क्रियता से चैतन्यता और क्रियाशीलता की ओर उन्मुख हुआ? शिष्य इन सभी बातों को जानना चाहता है, और विशेषकर, वह जानना चाहता है कि सत्यपुरुष का स्थान कहाँ था सृष्टि रचना होने के पहले। चूँकि अब शिष्य ने बारह पलों में एक अद्भुत आनंद का अनुभव कर लिया है, जहाँ परम शांति और स्थिरता थी और किसी प्रकार का स्पंदन नहीं था, वह एक आकार-प्रकार विहीन अवस्था थी, जो उसके अपने गुरु की आध्यात्मिक चेतना की अवस्था से भिन्न नहीं थी। तो इस प्रश्न के माध्यम से वह न केवल उस सत्यपुरुष का स्थान पूछता है, बल्कि अपने गुरु के सत्य रूप को भी जानना चाहता है।

jīvana udbhava sahita kahi puni kahã rahai sakāi;
jñāna rāya guru sahita tahã dīje mohi lakhāi. **154**.

The origin of its life tell me,
then, where could it have stayed;
The king of knowledge, O Guru, together,
please show me that place. **154**.

The disciple wonders, how did that mind or the thought of that supreme consciousness arise? Was it inactive before, and then it became active later? Where was it located before and after the time when it became self-aware. What caused it to change its state from being inactive or unaware, to being active and aware? The disciple really wants to know these things and the place where that infinite consciousness was located when all this happened. In the disciple's mind, now that he has experienced how the twelve moments of joy in absolute stillness can be formless, that place is not inseparable from the real form of his own Guru who is guiding him.

4 निरालंब अंग

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

साक्षी भाव विनासि कै निरालंब की हेतु ।
कहत भये तब शिष्य सन तपन तपा कर हेतु ॥155॥

शिष्य को तप की भट्ठी में तपा, निखारकर उसको सफल बनाने की दृष्टि से गुरु कहने लगे, अब तुम उस अलक्ष्य के प्रति साक्षी भाव को नष्ट कर दो, क्योंकि वह तो बिना किसी आलम्बन के स्वयं अवस्थित है, और उसे समझने का यही मार्ग है ॥ **155** ॥

सांसारिक जीवन के झंझावातों में तटस्थ बने रहने के लिये संतवृन्द प्राय: जीवन में साक्षी-भाव प्रयोग करने को कहते हैं। अर्थात कर्म करते हुए भी स्वयं अपने को बाहरी दृष्टिकोण से देखकर उस कर्म में जो आसक्ति है, उससे दूर रहने का प्रयास। दूसरे शब्दों में, यदि जीवन में कुछ ऐसा घट जाता है जो अप्रत्याशित और अप्रिय हो, तो उससे बहुत व्यथित या हतोत्साहित हो जाने की आवश्यकता नहीं है। उसी तरह, यदि कुछ अच्छा घट जाता है तो खुशी से सातवें आसमान पर उड़ने की भी ज़रूरत नहीं है। कहना यह, कि हर वस्तु, हर कर्म को इतनी सूक्ष्मता से देखना चाहिये कि उसका गूढ़ कारण बुद्धि में आ जाए, लेकिन स्वयं, जैसे चित्रपट पर कोई सिनेमा देख रहे हों, ऐसे उस कर्म से अनासक्त बने रहें।

इस दोहे में गुरु का आशय इससे विपरीत है। अब तक उन्होंने शिष्य को इतना परिपक्व बना दिया है, इतना अनुभव करा दिया है, कि अब उसको वह साक्षी-भाव, वह द्रष्टा-भाव बनाए रखने की आवश्यकता और नहीं है। अब शिष्य को उस सत्यपुरुष की निरालम्ब अवस्था, अर्थात स्वयंभू-चरित्र का अनुभव करना है। इसके लिये उसको उस सत्यपुरुष से पूरी तरह युक्त होकर एक हो जाना होगा। इसीलिये वे उससे कहते हैं कि अब तुम अपने साक्षी-भाव को तिरोहित कर दो ताकि तुम उस अनंत स्वयंभू चेतना का अनुभव प्राप्त कर सको। साक्षी-भाव बनाए रखने से वह अनुभवगम्य नहीं होगा। और, उस अनुभव की प्राप्ति के लिये जो भी तप करना पड़े, वह भट्ठी में तपे लोहे की तरह, उन्हीं की भाँति सक्षम बना देगा।

4 *Nirālamba aṅga*: On the Theme of Self-Support

The Guru Speaks

|| Dohā ||

sākṣī bhāva vināsi kai nirālamba kī hetu;
kahata bhaye taba śiṣya sana tapana tapā kara hetu. **155.**

Destroying the witness-sense,
to understand the one who self-exists;
He began to say to the disciple,
to forge him in the fire of penance. **155.**

To maintain sanity and equanimity in one's life, saints often advise seekers to maintain a 'witness-like viewpoint' towards their own life. That is to say, instead of becoming aggravated or discouraged by something that one does not like, or becoming so elated as to start jumping up and down with happiness if something that one likes happens, the saints say no, maintain your calm and detachment towards things that happen in life by viewing your own life as if on a cinema screen, thus looking at everything very minutely but in a detached manner.

In this couplet, however, the Guru has prepared the disciple enough, the Guru has made the disciple experience enough, that he does not need to maintain that witness-viewpoint anymore. In fact, if anything, he needs to get into the experience of the self-supported (*nirālamba*) nature of the True Being. This is why the Guru tells the disciple to now give up the witness-view of life for the sake of experiencing the infinite consciousness which is self-supported, because it cannot be experienced if one maintains a witness-view of life. To have the experience of that state, just like iron forged in a furnace, the disciple needs to be ready to observe whatever penance that is necessary.

|| चौपाई ||

हौं तूँ हृदय नाहीं जहिया । रहै अनूप महा मन तहिया ॥156॥[39]
नाभी कर नाहीं जब रेखा । निराकार महँ पवन विशेषा ॥157॥
हौं तूँ अनहद नाहीं जबही । शब्द ओंकार माँह रह तबही ॥158॥
जब नहिं हते निरञ्जन राई । प्रान अव्यक्त मध्य ठहराई ॥159॥
गगन केर जब नाहीं तंता । अविनाशी महँ हंस रहंता ॥160॥
भयो कमल नहिं तब सुनि लेहू । काल सुन्य महँ करि रह गेहू ॥161॥
नहिं अनूप हो तो संसारा । निर्गुन सुन्य माहँ तह सारा ॥162॥
कया कर्म जब एक न रहई । शीव महा तब जीवन अहई ॥163॥
चंद्र नहीं होत्यौ परकासा । जीव निरञ्जन के तब पासा ॥164॥
सुषमनि को नाहीं निर्माना । सुन्य माहँ तब निरञ्जन जाना ॥165॥

जब मैं और तू वाले द्वैतभाव वाला हृदय नहीं था, उस समय अनूप महा मन में रहता था ॥ **156** ॥ जब नाभी की रेखा तक नहीं बनी थी, तब पवन एक विशेष रुप से निराकार में बना रहता था ॥ **157** ॥ जब अनहद का आविर्भाव मुझमें और तुझमें नहीं हुआ था तब वह ओंकार में ही गूँजता था ॥ **158** ॥ जब प्रभु निरंजन नहीं हुए थे, उस समय प्राण अव्यक्त में वास करता था ॥ **159** ॥ जब गगन का तंत्र, यानी उसका ताना-बाना नहीं बुना गया था, तब हंस अविनाशी में निवास करता था ॥ **160** ॥ जब कमल का निर्माण नहीं हुआ था, तो उसके पहले काल का घर शून्य में हुआ करता था ॥ **161** ॥ यदि अनूप न हों तो सारा संसार शून्य निर्गुण अवस्था में ही सुषुप्त रहता है ॥ **162** ॥ जब न काया बनी थी, न उसके द्वारा प्रयोजित कोई कर्म, तब जीवन का भाव शिव में ही हुआ करता था ॥ **163** ॥ जब चंद्रमा का प्रकाश नहीं हुआ था तब जीव निरंजन के सान्निध्य में रहता था ॥ **164** ॥ जब सुषुम्ना का निर्माण नहीं हुआ था तब निरंजन स्वयं शून्य में ही अवस्थित रहते थे ॥ **165** ॥

इसके बाद वह क्रम से शिष्य को बताना आरम्भ करते हैं कि यदि इस सृष्टि की इस प्रकार की रचना न हुई हो तो ये सारे अवयव, जिनके बारे में अभी तक चर्चा होती रही है, वे कहाँ होंगे। वस्तुत:, सृष्टि-सर्जन के पहले सब कुछ एक प्रकार के अव्यक्त शून्य में था। द्वैतभाव संयुक्त मैं और तू के आविर्भाव के पहले केवल वही परम आत्मा, वही सत्यपुरुष ही था। उसके बाद ही अनेक प्रकार के वर्गों में विभाजित रचना का उदय हुआ। इसके पहले, जब हृदय का उदय नहीं हुआ था, तो 'अनूप', वह परिभाषा से परे की सत्ता, 'महा-मन' में निवास करता था। जब नाभि का आविष्कार नहीं हुआ था तो वह आकार रहित सत्ता एक प्रकार के विशेष पवन में स्थित रहती थी। उस समय, जब अनहद नाद की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी, वह अव्यक्त शब्द स्वयं ओंकार में ही एकीकार रहता था। जब देव निरंजन भी अपने अदृश्य-अज्ञात रुप में नहीं थे, तब प्राण, जो शरीर में जीवन का द्योतक है, उस समय एक 'अव्यक्त' स्थिति में छिपा रहता था। जब गगन के ताने-बाने का निर्माण नहीं हुआ था, उस समय हंस, जो आत्मज्ञान विहीन जीव का अविनाशी अंश है, वह 'अविनाशी' के ही साथ एकात्म रहता था। जब शरीर नहीं था, और उसमें कमल भी परिकल्पित नहीं हुआ था, तो उस समय स्वयं काल भी महान शून्य में एकीकार रहता था। गुरु दुहराते हैं कि यदि 'अनूप' का अस्तित्व न हो तो यह सारा का सारा संसार एक रुप-रेखा विहीन निर्गुण अवस्था में ही रहता है। मानव जीवन की गति जिस काया और जिन कर्मों से होती है, जब वे उत्पन्न नहीं होते हैं तो जीवन की कल्पना मात्र शिव में ही अवस्थित होती है। जब शरीर में स्थित चंद्र भी नहीं होता है, क्योंकि स्वयं शरीर भी नहीं है, तो 'जीव', वह अपने स्वरुप से अनभिज्ञ तत्त्व, निरंजन के सान्निध्य में रहता है। जब सुषुम्ना नाड़ी का भी निर्माण नहीं हुआ होता है, उस अवस्था में निरंजन देव भी शून्यायतन में ही विराजमान रहते हैं। यही उस सत्यपुरुष का अव्यक्त रुप है, पूर्ण शून्य।

इन चौपाइयों में हालाँकि बाबा कीनाराम उस सत्यपुरुष की सृष्टि से पहले की अमूर्त अवस्था का वर्णन करते हैं, एक हल्की सी सगुणात्मकता की भी झलक इनमें मिल जाती है। यदि हम हिंदू सृष्टि निर्माण की परिकल्पनाओं को एक सरसरी निगाह से देखें तो पाएँगे कि ब्रह्मा को सृष्टि निर्माता कहा जाता है, शिव को नहीं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों ही हिंदू त्रिमूर्ति के ऐसे देव हैं जो क्रमश: सृष्टि निर्माण, सृष्टि पालन, और सृष्टि संहार का कर्तव्य पालन करते हैं। विवेकसार के दोहा संख्या 60 में उन्होंने स्पष्ट कहा भी है - "रुद्र होइ जग को करै कबहुँ कबहुँ संहार ।" लेकिन यहाँ चौपाई संख्या 163 में हम पाते हैं कि शिव में भी जीवन का अव्यक्त भाव छिपा रह सकता है। यह सम्भव है कि यहाँ बाबा कीनाराम शिव शब्द का प्रयोग एक निर्गुण रुप में कर रहे हों, जैसे कि संत साहित्य में राम शब्द का प्रयोग प्राय: किया जाता है। किंतु एक अन्य सम्भावना है

39 तु. बड़थ्वाल 1960, 189 सं. 28 ।देखें परिशिष्ट।

|| caupāī ||

haũ tū hṛdaya nāhĩ jahiyā; rahai anūpa mahā mana tahiyā.[49] **156**.
nābhī kara nāhĩ jaba rekhā; nirākāra mahã pavana viśeṣā. **157**.
haũ tū anahada nāhĩ jabahī; śabda oṁkāra māhã raha tabahī. **158**.
jaba nahĩ hate nirañjana rāī; prāna avyakta madhya ṭhaharāī. **159**.
gagana kera jaba nāhĩ tantā; avināśī mahã haṁsa rahantā. **160**.
bhayo kamala nahĩ taba suni lehū; kāla sunya mahã kari raha gehū. **161**.
nahĩ anūpa ho to saṁsārā; nirguna sunya māha taha sārā. **162**.
kayā karma jaba eka na rahaī; Śīva mahā taba jīvana ahaī. **163**.
candra nahĩ hotyau parakāsā; jīva nirañjana ke taba pāsā. **164**.
suṣamani ko nāhĩ nirmānā; sunya māhã taba nirañjana jānā. **165**.

When the I-you duality does not exist; the "Peerless" stays in the Supreme spirit. **156**.
When there is no sign of the navel; in the "Formless" dwells the breath special. **157**.
When I and you had no unstruck sound; it abided in the word OM. **158**.
When the Invisible God is not manifest; the Vital-air rests in the unmanifest. **159**.
When the weft of the sky is not perceptible; the 'swan' resides in the imperishable. **160**.
When the lotus is not yet born; in the void "Time" makes its home. **161**.
Without the presence of the Peerless the world; stays in an attribute-free void. **162**.
When deeds and actions do not exist; in Supreme Shiva then life persists. **163**.
When the light of the Moon does not shine yet; the sentient being is with the Invisible God. **164**.
When the *Suṣumnā* is not yet formed; one with the void is the Invisible God. **165**.

Then, the Guru provides his explanation, pretty much in the order in which the disciple has asked about the various components of the unmanifest creation. Essentially, everything had been a part of an unmanifest void before the creation was brought into being. It was only the Supreme Spirit (the True Being) that existed before the duality of I and you as different from each other were created. When the body and the navel were not in existence, the breath was one in a formless state with the Formless one, as was the vital air, because it did not need to be out in an uncreated creation. When the unstruck sound (*anahad nād*) did not pervade the universe, it remained within the sound 'Om', which, as we remember, was the first sound that emanated simultaneously with the desire of the True Being that there be a creation. There was no space either, so the soul that manifests itself in the sentient being did not need to be there. It remained with the eternal God as a part of it. Without space and distance, there was no time either. It remained in the void that was the unmanifest nature of the Supreme Being. This is the nature of that Divine Being, absolute nothingness, when the world is not in

49 Comparable to Barthval 1960, 189 v. 28. See Appendix.

जिसका यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। कश्मीर की शैव परम्परा, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से भी जाना जाता है, उसमें शिव को ही परम सत्ता के रूप में देखा जाता है। स्वच्छंदतंत्र के अनुसार -

> यह जगद्विकास ही परमशिव का विश्वमयरूप कहा जाता है।... वस्तुत: विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय - दोनों ही स्थितियों में परमार्थता एक ही मूल सत्ता की होती है। जब वह परमशिव विश्वोत्तीर्ण रूप में जो परम-शिव है, महेश्वर अथवा शिव भट्टारक है, विश्वमय रूप में भी वस्तुत: वही है। जब वह परमशिव जगत् रूप में अपना विकास करना चाहता है, तो स्वयं से अभेदात्मना अवस्थित प्रमाता एवं प्रमेयों (तत्त्वों) को अपनी स्वातंत्र्यशक्ति (विमर्श) की महिमा से, स्वयं को ही आधार बनाकर पृथक् उन्मीलित कर देता है। (मिश्र 2002 प्रथमो भाग, 7)

a state of creation. All that exists is an inexpressible void, but within it, unexpressed, lies Shiva, and that is where all seeds of life lay hidden.

This last line about seeds of life lying within the unmanifest form of Shiva is interesting because normally, in the Hindu Trinity, popular imagination ascribes creation to the anthropomorphic form of Brahman, its maintenance to Vishnu, and its destruction to Shiva. But as Baba Kinaram writes in the *Viveksār*, seeds of life lie unexpressed in the unmanifest form of Shiva when the creation is not yet conceived.

It is possible that Baba Kinaram has used the name of Shiva here in a formless way, just as the name of Rama is often used in the sant literature, but there can be another association which needs to be mentioned here. In the tradition of Kashmir Shaivism, which is known as *Pratyabhijñjā*, it is Shiva who is regarded as prime source of all creation. Here the name used is *Paramshiva* (the supreme Shiva), and the entire expanse of creation is an expression of his from. In *svacchandatantra* it is stated that whether it be the expressed form or the unexpressed form, in both instances they are the forms of Paramshiva. When that Paramshiva wishes to expand itself into a creation, with the help of its indivisible mental faculty it does so. In such a case, even though expressed, the creation remains inseparable from *Paramshiva* (Mishra 2002 Part 1, 7).

|| दोहा ||

नभ जल पक्षी मीन को मारग लख्यौ न जाय ।[40]
जैसो कहो विचारिये जीवन यत्न जनाय ॥166॥

यह उसी प्रकार है जैसे कि नभ में उड़ते पक्षी और पानी में तैरती मछली का मार्ग जान पाना दुरुह होता है। इसलिये जैसा गुरु निर्देश दें, उसपर मनन करते हुए जीवन को कर्मठ बना कर जीना चाहिये ॥ **166** ॥

अव्यक्त ब्रह्म के अवयवों का वर्णन करने के बाद, जब सभी कुछ उसी शून्यमय ब्रह्म में बीज या कल्पना रूप में रहता है, गुरु कहते हैं कि ब्रह्म की उस अव्यक्त स्थिति का वर्णन करना सरल नहीं। यह वैसा ही है जैसे निरभ्र आकाश में किसी उड़ते हुए पक्षी के मार्ग को पहचान लेना (क्योंकि वायु में उसने कोई चरण-चिह्न तो छोड़े नहीं हैं), या जल में मीन द्वारा तय किया हुआ मार्ग पकड़ लेना (क्योंकि जल स्वयं हलचलमय होने के कारण कहीं कोई चिह्न नहीं है)। इसलिये गुरु शिष्य से कहते हैं कि जो कुछ भी कहा गया है उसी पर चिंतन-मनन करने के साथ जीवन में प्रयत्न करते रहो, और इससे सत्य का यथार्थ दृष्टिगोचर होने लगेगा।

लेकिन इतना कहने के बाद गुरु अपनी वाणी को विराम नहीं दे देते हैं। वे यह भी समझाने लगते हैं कि जब सृष्टि रचना की प्रथम अँगड़ाई उत्पन्न होती है तो उस समय इन सभी तत्त्वों के साथ क्या-क्या होता है।

40 तु. तिवारी 1961, 2: 63 सं. 108, "पंखी का खोज मींन का मारग कहै कबीर बिचारी । अपरंपार पार परसोतम वा मूरति की बलिहारी ॥3॥

|| Dohā ||

nabha jala pakṣī mīna ko māraga lakhyau na jāya;[50]
jaiso kaho vicāriye jīvana yatna janāya. **166.**

The path of the bird in the sky and
the fish in the water is hard to follow;
reflecting on what has been said
realize the true life by making effort. **166.**

Having described how each of the components of the manifest universe remained hidden and unmanifested in the un-created universe, the Guru remarks that even describing these things is difficult because this is essentially something to be experienced in that state of meditative union which goes beyond the body. It is like trying to describe the flight of a bird in the sky or to trace the path of a fish in the water, very difficult to perceive, and even more difficult to put into words. So, the Guru exhorts the disciple to make an effort in life to reflect on what has been said.

But the Guru does not stop here. He goes on to put into words what happens with these components when the creation begins to come into being.

50 See Hess, Singh 2002, 156. The fish and the bird are so one with their environment that their tracks cannot be traced. So also, is the nature of certain of Kabir's aphorisms.

|| चौपाई ||

मन को जीवन पवन प्रमाना । समुझि लेहु यह चतुर सुजाना ॥167॥
स्वाँस प्रान को जीवन जानी । ताते कहो सत्य पहिचानी ॥168॥
बहुरि शब्द को जीवन कहिये । प्रान प्रतिष्ठा तेते लहिये ॥169॥
द्वितीय प्राण का जीवन ऐसा । ब्रह्म ब्रह्म सुब्रह्मै तैसा ॥170॥
ब्रह्म को जीवन सहज सरूपा । नाम कहों तस हंस अनूपा ॥171॥
जिन जन हंस जानि जिय जोई । भयो परम पद प्रापत सोई ॥172॥
अबिनाशी को जीव न जानौ । कहों अनूप सदा पहिचानौ ॥173॥
अब अनूप को जीवन ऐसा । सुन्य सुन्य को अंतर जैसा ॥174॥
सून्य करे जो जीवन अहई । शिव सो सदा निरंतर रहई ॥175॥
शिव न जीव तोहि कहि अवधूता । देव निरंजन सदा अरूता ॥176॥[41]
जीवन सुनो निरंजन केरा । निराकार महँ संतत डेरा ॥177॥ [42]

मन की जीवन संचालन की शक्ति उस पवन पर आधारित है जो प्राण वायु है, सयाने अनुभवी व्यक्ति को यह सत्य ठीक से समझ लेना चाहिये ॥ **167** ॥ स्वयं प्राण का अस्तित्व श्वास पर आधारित है, इसलिये सूक्ष्म बुद्धि से सत्य की पहचान कर लेनी चाहिये ॥ **168** ॥ आगे, यदि शब्द के जीवन के बारे में कहा जाय, तो सभी की प्राण-प्रतिष्ठा उसी से हुई है ॥ **169** ॥ दूसरी बात, इस प्राण का जीवन स्वयं कैसा होता है? वह तो पूर्णत: उस ब्रह्माण्ड रचयिता ब्रह्म की ही तरह होता है ॥ **170** ॥ स्वयं ब्रह्म का जीवन तो तत्वत: सहज होता है, उसको यदि किसी नाम से पुकारना हो तो उसे अनुपम हंस कह सकते हैं ॥ **171** ॥ जो लोग हंस का रहस्य जान कर उसे हृदय में सँजो कर रखते हैं, वे परम पद को प्राप्त करते हैं ॥ **172** ॥ जो अविनाशी नाम की सत्ता है, उसे जीव नहीं जानना चाहिये, वही तो वह 'अनूप' है जिसे साधक सदा पहचान लेते हैं ॥ **173** ॥ अब अनूप के जीवन के विषय में कहा जाय तो वह उसी प्रकार का है जैसे कि शून्य के भी गहनतम का शून्य ॥ **174** ॥ शून्य का जीवन जो होता है, वह सदा शिव की तरह का होता है ॥ **175** ॥ अवधूत बल देकर कहते हैं कि शिव जो है वह जीव नहीं होता, वह तो देव निरंजन की भाँति सदा विरागी चित्त का होता है ॥ **175** ॥ और स्वयं निरंजन का जीवन कैसा होता है? तो उनका तो निवास सदा-सर्वदा निराकार में ही होता है ॥ **177** ॥

गुरु कहते हैं कि सभी विज्ञ लोगा जानते हैं कि मन पूरी तरह से पवन पर आधारित होता है, चाहे वह शरीर में श्वास के रूप में हो या बाहर वायु के रूप में हो। जीव के शरीर में जो प्राण होता है, उसे प्राण-वायु भी कहा जाता है क्योंकि श्वास ही प्राण को शरीर के अंदर बाँध कर रखता है। प्राण-वायु के अभाव में मन बिल्कुल भी काम नहीं कर सकता। यह एक अकाट्य सत्य है जिसे हर किसी को स्वीकारना होता है। जीव में प्राण का उदय उसी अभूत शब्द से होता है जिससे कि पूरी सृष्टि की रचना होती है। यही शब्द सभी जीवधारियों में प्राण की प्रतिष्ठा करता है। और, इस प्राण का, जो प्राण-वायु है, स्वरूप क्या होता है? यह बिल्कुल उस ब्रह्म के जैसा होता है, उसके रूप से ही साम्य रखता है। यदि ब्रह्म के रूप की बात की जाय तो उसका वर्णन किया भी कैसे जा सकता है? वह तो स्वयं अपने ही सहज स्वरूप के जैसा है। हाँ, यह अवश्य है कि उसको 'हंस' नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, जो नाम शरीरधारी जीव की आत्मा के लिये भी प्रयुक्त होता है। अगर जीव इस हंस को जान ले, तो वह परम-पद को प्राप्त कर लेता है। तो यहाँ ब्रह्म और जीव की आत्मा का सुंदर सामंजस्य मिलता है जहाँ प्राण का रूप ब्रह्म के जैसा है, ब्रह्म का नाम हंस है, हंस जीव की आत्मा है, और आत्मा उस परमात्मा का अंश है। हंस भारतीय संस्कृति में नीर-क्षीर-विवेक का परिचायक है, इसलिये इस हंस को जानना ही उस ब्रह्म को हस्तामलकवत् जानने सरीखा है।

लेकिन, वह सत्यपुरुष जीव कदापि नहीं है। जीव का नाश हो सकता है, लेकिन वह सत्यपुरुष तो अविनाशी है। उसका न केवल नाश नहीं होता, अपितु वह सदा-सदा के लिये नित-नवीन ही बना रहता है। उसको अनूप भी कहते हैं, यानी, जिसके जैसा और कोई नहीं है। उस अनूप का जीवन शून्य से अविभाजीय रूप से सम्बद्ध है। शून्य तो अपने आप में शून्य होता ही है, किंतु यहाँ शून्य में भी एक शिव की परिकल्पना है, जो चिरंतन हैं। वह शिव भी, सत्यपुरुष की ही तरह, जीव बिल्कुल नहीं हैं, उनका भी चरित्र निरंजन देव

41 सिंह 2010, 170 निरुता = नि:+रुत = शब्द रहित, ध्वनि रहित. .

42 तु. दास 2000, 175 - "अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई॥ सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥"

|| caupāī ||

mana ko jīvana pavana pramānā; samujhi lehu yaha catura sujānā. **167.**
svẽsa prāna ko jīvana jānī; tāte kaho satya pahicānī. **168.**
bahuri śabda ko jīvana kahiye; prāna pratiṣṭhā tete lahiye. **169.**
dvitīya prāna kā jīvana aisā; brahma brahma subrahmai taisā. **170.**
brahma ko jīvana sahaja sarūpā; nāma kahõ tasa haṁsa anūpā. **171.**
jina jana haṁsa jāni jiya joī; bhayo parama pada prāpata soī. **172.**
abināśī ko jīva na jānau; kahõ anūpa sadā pahicānau. **173.**
aba anūpa ko jīvana aisā; sunya sunya ko antara jaisā. **174.**
sūnya kare jo jīvana ahaï; Śiva so sadā nirantara rahaï. **175.**
Śiva na jīva tohi kahi avadhūtā; deva nirañjana sadā arūtā.[51] **176.**
jīvana suno nirañjana kerā; nirākāra mahã santata ḍerā.[52] **177.**

The life of the mind rests on continuous breath; O wise one understand it well. **167.**
Breath animates the Vital-breath; so I ask you to recognize the truth. **168.**
Then the 'Word' – its life next; it consecrates the (body with) Vital-breath. **169.**
Second, such is the Vital-breath's life; without a doubt it is *Brahman*-like. **170.**
Brahman's life is of mystical transcendence; it is a being which is called Peerless. **171.**
Those who know the swan close in their heart; they achieve the supreme state. **172.**
The Imperishable one is not a sentient being; it is called the Peerless – so always recognize. **173.**
Now the life of the Peerless is such; like the void and deep emptiness. **174.**
The life of the void that exists; like Shiva it eternally persists. **175.**
Shiva is not a sentient being the Avadhūt says; it is the Invisible God who is always detached. **176.**
Listen to the life of the Invisible God; in the formless it has an eternal abode. **177.**

The Guru points out that the mind is completely dependent on air, this is something that all wise people know. The reference here seems to be to the vital-air, the *Prāṇa-Vāyu*, without which the mind cannot function at all. In the same vein, the Guru says, it is the breath that is the life-force of a sentient being. This is an absolute truth which should be recognized by all. This vital-air is what forms the life-force of the embodied sentient being. This life-force is a result of the original primordial sound which resulted in the creation of everything, and in the establishment of the life-force in the living beings. And what is the form of this life-force, this vital-air? It is absolutely like the ultimate Godhead, the supreme divine being. And what is the form of that supreme divine being, the *Brahman*? It is of its own form,

51 See Singh 2010, 170 *nirūtā* = *niḥ*+*rut* = without a word, without a sound.

52 Comparable to Das 2000, 175, "*alakh Niranjan lakhai na koī nirabhai nirākar hai soī*" (No one can perceive the imperceptible Niranjan, it is without fear as well as without a form).

की तरह इस संसार में व्याप्त होते हुए भी उससे असंपृक्त रहने का है। निरंजन तो सदा ही अपने मूल रूप, निराकार में रहते हैं, वहीं उनका अनंतकाल तक स्थायी आवास होता है।

at best we can describe it as the incomparable, peerless swan. The swan, in the Hindu tradition, does symbolize profound spiritual knowledge. And so, here we have a nice description of the union between the little Self denoted often in Hindu texts as the '*Ātmā*', and the supreme divine being, the '*Paramātmā*'. They are not different at all, except that one is diffuse in the universe and causes everything to happen, the other exists within the bodies of sentient beings as long as they remain alive.

The Guru continues: all those who get to know that swan, realize the supreme godhead as a fruit in the palm of their hands. The indestructible supreme being is not an embodiment of a sentient being. It is, in fact, like a void, like the subtlest of the most subtle entity in existence. The life of this void is totally detached, just like the persona of Lord Shiva, and it always remains so. Shiva, again, is not a sentient being, he is the imperceptible God who always, by nature, remains non-attached to the world. This imperceptible God is totally formless, it remains so for eternity.

|| दोहा ||

अगम अगोचर परम पद कबहुँ न लहै विरंचि ।[43]
विष्णु महेश समेत सुर कोटि यत्न करि जंचि ॥178॥

ब्रह्मा को भी वह अगम्य, इंद्रियातीत सर्वोच्च पद प्राप्त नहीं होता। भगवान् विष्णु, शिव सहित करोड़ों देवताओं ने भी इसका प्रयास कर के देख लिया है ॥ **178** ॥

यह पाया न जा सकने वाला (अगम), किसी भी प्रकार से देखा न जा सकनेवाला (अगोचर) परम पद ब्रह्मा (विरंचि) को भी नहीं प्रप्त होता है, जिनको हिंदू शास्त्रों में सृष्टि का रचयिता भी माना जाता है। उसी प्रकार, विष्णु और शिव, और अन्य देवता लोग भी इस परम पद से अछूते ही रहते हैं। इस संदर्भ में हमें शिव के दो रूपों की विवेचना करनी पड़ेगी। एक तो वह रूप है जो निरंजन के साथ एकात्म होने के कारण निराकार है, और शून्य सरीखा है, हालाँकि उसी में सृष्टि के अव्यक्त बीज भी छिपे हैं। उनका दूसरा रूप हिंदू त्रिमूर्ति का है जहाँ उनका एक रूप भी है, और साथ ही उनको सौंपा हुआ एक कार्य भी है जिसका उन्हें सम्पादन करना होता है।

43 दास 2000, 10 साखी 5.4 “अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगै जोति।“

|| Dohā ||

agama agocara parama pada kabahũ na lahai virañci;[53]
Viṣṇu Maheśa sameta sura koṭi yatna kari jañci. **178**.

Brahma never achieves the
fathomless subtle state sublime;
Vishnu-Shiva and other gods too
have tried a million times. **178**.

The Guru continues and points out that this unattainable, imperceptible, supreme position is never attained even by Brahmā (here nominated as *Viranci*), the creator of the universe. Nor is it accessible to the Gods Vishnu, Shiva and a whole host of other such beings, even though they have tried to attain it a million times. Here we will need to make a distinction between two conceptions of God Shiva. One is the form that is one with Niranjan, and remains unexpressed in the void, yet contains the incipient seeds of life. The other is the Shiva as a part of the Hindu Trinity of Brahma, Vishnu and Shiva, where he has a form, and has a specific function to fulfil.

53 Das 2000, 10 *Sākhī* 5.4 - "*agam agocar gami nahĩ, tahã jagmagai joti*" (there's no way to reach that invisible and imperceptible one, where shines a divine light).

सो शिष तो सन जानि कै कीन्हो सत्य विचार ।
उद्भव अब इन्हको कहों परम तत्त्व निरधार ॥179॥

तो, हे शिष्य, तुम्हारे संग में, तुम्हारी यहाँ उपस्थिति की महत्ता जानते हुए, मैंने इन सत्य अवयवों के विषय में अपने विचर रखे। अब इनके उद्भव का वर्णन सुनाता हूँ, यह याद रखते हुए कि ये सभी उस परम तत्त्व से उपजे हैं जो स्वयं निरधार, यानी निरालम्ब एवं स्वयं पर आधारित है ॥ **179** ॥

यह तो हुई अव्यक्त और व्यक्त सृष्टि के सामञ्जस्य की बात। शिष्य को अपना जानकर गुरु ने इस सामञ्जस्य, इस सत्य की कथा शिष्य की जिज्ञासा शांत करने के लिये बता दी। किंतु गुरु का प्रवचन अभी भी पूरा नहीं हुआ है। वे बताना आरम्भ करते हैं कि इन सब अवयवों की उत्पत्ति कैसे हुई। क्योंकि वह परम तत्त्व जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है वह तो निराकार भी है और आधार-रहित (निरालम्ब) भी। ऐसा नहीं है कि वह किसी का आलम्बन लेता है, या उसे किसी अन्य की आवश्यकता हो। अगर एक वही है, और केवल वही है, तो फिर किस तरह से सृष्टि की उत्पत्ति होती है?

व्याकरण की दृष्टि से इस दोहे को थोड़ा समझने की आवश्यकता है। पहली पंक्ति में 'तो सन' को हिंदी में 'तुझसे' माना जा सकता है, और इसका सामंजस्य इस पंक्ति के अंत के तीन शब्दों 'कीन्हो सत्य विचार' से बैठ जाता है – तुझसे सत्य विचार कहा। लेकिन 'तो सन' का यह अर्थ लगाने पर 'जानि कै' (हिंदी – जान कर) का अर्थ पूर्णतया अस्पष्ट हो जाता है। किंतु न हिंदी शब्दकोशों में (ऑक्सफ़र्ड हिंदी-इंग्लिश डिक्शनरी 1993, 979; डिक्शनरी ऑफ़ भक्ति 2009, 1976) 'सन' शब्द का एक अर्थ 'संग' (साथ) भी दिया गया है। यदि हम 'सन' शब्द का अर्थ 'से' न लगाकर 'संग' मानें, तो बाबा कीनाराम के भाव को समझने में सहायता मिल सकती है। लेखक को प्रतीत होता है कि इस दोहे की प्रथम पंक्ति में गुरु शिष्य को बहुत स्नेह से सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि "तेरे संग (के औचित्य या महत्व को, यानी तेरी चातक-चित्त जिज्ञासा) को जानते हुए मैंने सत्य (अवयवों के विषय में) विचार कहे हैं। अब इन (अवयवों) के उद्भव को कहते हैं, यह जानते हुए कि वह परम तत्त्व स्वावलम्बित, यानी निरालम्ब अथवा स्व-आधार पर अवस्थित है।" ऐसा भाव मानने पर दूसरी पंक्ति के बहुवचन शब्द 'इन्हको' समझने में आसानी हो जाती है क्योंकि इस दोहे के तुरत बाद गुरु चौपाइयों में इन सभी अवयवों के उद्भव को नामांकित करते हैं।

so śiṣa to sana jāni kai kīnho satya vicāra;
udbhava ab inhako kahõ parama tattva niradhār. **179**.

So disciple in your company (with your desire to learn),
I have stated my thoughts on the Truth;
now I speak of the origin of each element,
from the Supreme Being who is 'self-supported'. **179**.

The Guru concludes his description as he comes down to a more mortal plane and addresses his disciple. He tells the disciple that because of his queries, in his company, he has expressed his thoughts about the nature of the truth. But then he adds that the discourse is not yet complete. He still needs to tell the disciple about how all these things came into being even though the supreme godhead is itself most subtle and self-supported. This last idea implies that that supreme godhead has no need for any other kind of support for its existence.

From the point of view of grammar, word choice and poetic license, it is useful to discuss the construction of this verse. In the first line, the words '*to sana*' can be taken to mean in standard Hindi 'to you' (*tujh se*), and their meaning will harmonize with the last three words in this line '*kīnho satya vicāra*' (I have stated my thoughts on the Truth). But adopting this meaning of '*to sana*' leaves the phrase '*jāni kai*' (Hindi: *jāna kar* 'knowing, having known') without an explanation. In Hindi dictionaries (*Oxford Hindi-English Dictionary*, 979; *Dictionary of Bhakti*, 1976), however, another meaning is given for '*to sana*' (Hindi: *saṅga* 'with, together, in the company of'). So, if, for the word '*sana*', instead of imputing the meaning 'to you' we adopt the meaning 'company', then the sentiment of Baba Kinaram's verse becomes a little clearer. It appears to the author that in the first line of this verse the guru addresses the disciple with great affection and says: "In your company (knowing of your intense desire to learn) I have stated my thoughts about the True elements (within the body)". In the second line of the verse he says: "Now I explain to you the origin of all these elements, knowing that the Supreme Being is Self-Supported". Acknowledging such an interpretation, then, accounts for the meaning of the plural word '*inhako*' ('of these'), because right after this verse the guru embarks upon a series of *caupāī* verses where he mentions the origin of all the elements in the body that have been nominated before.

|| चौपाई ||

अलि लै भयउ तवति निरंजन । जानि लेहु अध्यातम सज्जन ॥180॥
देव निरंजन ते शिव भयऊ । निरालंब को आसन कयऊ ॥181॥
शिव ते भये काल अति भारी । जो शुभ अशुभ प्रलय संहारी ॥182॥
काल माहँ ते सुन्य अनूपा । यह अनुभव को रूप अनूपा ॥183॥
अविनाशी सो शिव प्रगटानो । सो सब शास्त्र वेद मत जानो ॥184॥
ज्योति ते भयो ब्रह्म को उद्भव । सदा अशंक जाहि नहिं औरव ॥185॥
अविगति सो कहि प्रान जनायो । मत सिद्धांत सार कहि गायो ॥186॥
प्रान माहँ ते मन प्रगटाना । सदा निरंतर सो करि जाना ॥187॥[44]
मन ते भयउ शब्द परिनामा । ताते कहिय अनंत अनामा ॥188॥
शब्द माँह तब पवन प्रकासा । जेहि ते जोगी जगत निरासा ॥189॥
स्वाँसा पवन माहँ ते होई । हे शिष अकल अत्व गति सोई ॥190॥

निरंजन ने एक साथी, एक शक्ति को उत्पन्न किया और विस्तार करने लगे, इस आध्यात्मिक विषय को जान लेना आवश्यक है ॥ **180** ॥ तब देव निरंजन से शिव की उत्पत्ति हुई, अपने ही आधार पर वे निरालम्ब आसनस्थ हुए ॥ **181** ॥ शिव से अत्यंत भयानक काल उत्पन्न हुए जो प्रलय काल में शुभ-अशुभ सभी वस्तुओं का संहार कर देते हैं ॥ **182** ॥ काल में से अनुपम शून्य का उद्भव हुआ, इस अनुभव का रूप भी अनूठा था ॥ **183** ॥ फिर उन अनश्वर अनूप से शिव का एक और रूप प्रस्फुटित हुआ, यह बात सभी शास्त्रों, और वेद द्वारा भी, अनुमोदित है ॥ **184** ॥ ब्रह्म का उद्भव ज्योति से हुआ, वह ब्रह्म जिनकी लम्बाई-चौड़ाई (की थाह) नहीं है, और जो सदा नि:शंक रहते हैं ॥ **185** ॥ उस अज्ञात, अनिर्वचनीय से प्राण का स्फुरण हुआ, सभी मत और सिद्धांतों का सार यही कहता है ॥ **186** ॥ प्राण से ही मन प्रकट हुआ, सब जानते हैं कि वह निरवरोध, अनंत है ॥ **187** ॥ मन से शब्द उत्पन्न हुआ, वह अनंत है, उसका कोई नाम नहीं है ॥ **188** ॥ शब्द से पवन प्रकाश में आया, उसी को साध कर योगीजन संसार के प्रति कोई आकर्षण नहीं रखते ॥ **189** ॥ उस पवन में से तब श्वास का अनावरण हुआ, हे शिष्य, वह आत्मरत और रूप विहीन होते हुए भी सर्वत्र विद्यमान है ॥ **190** ॥

तत्त्वों के उद्भव का प्रारम्भ करते ही गुरु कहते हैं कि वह जो मात्र एक निरंजन थे, उन्होंने अपना ही विस्तार किया। यहाँ 'तवति' शब्द यही इंगित करता है (देखें विकिशब्दकोश:, तवति)।[45] तो यह 'तवति' कैसे हुई? उस निरंजन ने अपने में से ही अपना एक साथी, एक शक्ति को उत्पन्न किया, जिसको गुरु 'अलि' काव्यमय संज्ञा देते हैं (देखें Callewaert 2009, 116)। वैसे अलि का अर्थ भँवरा भी होता है (देखें मोनियर-विलियम्स 1872, 86) और 'अलिविराव' का अर्थ मधुमक्खियों का गीत या गुंजन भी होता है (देखें विकिशब्दकोश:)। इस गुंजन को यदि हम 'ऊँ' का पर्याय मानें तो इसी गुंजन से उस नारीशक्ति की उत्पत्ति मानी जा सकती है, जैसा कि यहाँ एक रचनात्मक शक्ति का ही उद्भव सम्भव लगता है। उसकी सहायता से एक होते हुए भी वह निरंजन अनेक हो गए। इस अगोचर निरंजन से फिर शिव की उत्पत्ति हुई, जो सदा अपनी ही निरालम्ब अवस्था में स्थित रहते हैं। शिव से फिर काल का संचरण हुआ, वही काल जो काल आने पर शुभ हो या अशुभ, सब का विनाश कर देता है। काल में से ही अवर्णनीय, अनूप, शून्य का जन्म हुआ। अवर्णनीय होने के कारण इसे केवल प्रत्यक्ष अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसी अनूप से, जिनको गुरु अविनाशी भी कहते हैं, शिव प्रकट हुए, ऐसा सभी वेद-पुराण और अन्य शास्त्र कहते हैं। उसी अनूप की ज्योति से ब्रह्मा भी प्रकट हुए जिनकी असीमता का कोई ओर-छोर नहीं है, और जो सर्वदा भय-मुक्त हैं। अब गुरु उस परम सत्ता के लिये एक अन्य शब्द, अविगति, का प्रयोग करते हैं, जिसे अव्यक्त भी कहा जा सकता है, और कहते हैं कि इसी अविगति से प्राण की उत्पत्ति हुई, और उसके साथ ही सभी मतों और सिद्धांतों की भी। एक बार प्राण उत्पन्न हो गया तो उसमें मन भी प्रकट हुआ, और मन की चारित्रिक इच्छाएँ और संकल्प-विकल्प भी। यह प्राण भी नाशवान नहीं है, अमर है, सदा बना रहता है। मन के परिणाम से फिर शब्द उत्पन्न हुआ जो स्वयं अनंत भी है और अनाम भी। उस शब्द में से तब पवन का सञ्चरण हुआ। यही वह पवन है जिसे अपनी काया में नियंत्रित कर योगी जगत के आकर्षण से उपराम हो जाते हैं। जीवित रहने के लिये जीव जो श्वास लेता है वह उसी पवन का अंश है जो सदा पूर्ण और अविभक्त रहता

44 तु. बड़थ्वाल 1960, 191 सं. 44 । देखें परिशिष्ट।

45 देखें «तवति" कृते अन्वेषणपरिणामाः - विकिशब्दकोशः (wiktionary.org).

|| caupāī ||

ali lai bhayaü tavati nirañjan; jāni lehu adhyātama sajjana. **180.**
deva nirañjana te Śiva bhayaü; nirālamba ko āsana kayaü. **181.**
Śiva te bhaye kāla ati bhārī; jo śubha aśubha pralaya saṁhārī. **182.**
kāla māhã te sunya anūpā; yaha anubhava ko rūpa anūpā. **183.**
avināśī so Śiva pragaṭāno; so saba śāstra Veda mata jāno. **184.**
jyoti te bhayo brahma ko udbhava; sadā aśaṅka jāhi nahĩ aurava. **185.**
avigati so kahi prāna janāyo; mata siddhānta sāra kahi gāyo. **186.**
prāna māhã te mana pragaṭānā; sadā nirantara so kari jānā.[54] **187.**
mana te bhayaü śabda parināmā; tāte kahiya ananta anāmā. **188.**
śabda māhã taba pavana prakāsā; jehi te jogī jagata nirāsā. **189.**
svẫsā pavana māhã te hoī; he śiṣa akala atva gati soī. **190.**

The Imperceptible blossomed with a companion; mind this mysticism gentlemen. **180.**
Surfaced Shiva from the Imperceptible God; settled in the seat – *sans* support. **181.**
Shiva sired Time – weighty, immoderate; for dissolution of all good and bad. **182.**
Time triggered the Void Peerless; this awareness forms a splendid experience. **183.**
From the Immortal manifested Shiva; conclude all scriptures and the *Veda*. **184.**
Brahmā arose from light incandescent; ever fearless, with endless extent. **185.**
The "Eternal" revealed the Vital-breath; sang the essence of all theory and precept. **186.**
From the Vital-breath manifested the mind; it continues uninterrupted, everlasting. **187.**
The "Word" resulted from the mind; said to be limitless, undefined. **188.**
Constant breath radiated in the "Word"; with which yogis keep detached from the world. **189.**
The breath comes from the Constant Breath; disciple, its motion is timeless. **190.**

The Guru continued – the imperceptible God took a companion and commenced the task of the creation. This is a fundamental precept of spirituality because from one, it became more than one, while still remaining the one. Baba Kinaram uses two interesting words to denote this spiritual proliferation – '*ali*' and '*tavati*'. Callewaert (2009, 116) provides one of the meanings of this word as a 'companion'. In Monier-Williams (1956, 95) one of its meanings is a 'large black bee'. *Wikiśabdakośaḥ* states one of its meanings to be a swarm of bees, and the word '*alivirāva*' as the buzzing of a swarm of bees. *Wikiśabdakośaḥ* also indicates one of the meanings of '*tavati*' to 'thrive or increase'. So, if we take this humming of the bees to be like the primordial sound 'Om', then we can deduce that this hum created a feminine power that proliferated and thrived.

54 Comparable to Barthval 1960, 191 v. 44. See Appendix.

है। इसका चरित्र ऐसा है कि जीवन के हर क्षेत्र में यही मूलभूत कारण-सत्ता है, ठीक उसी तरह से जैसे कि देवनागरी वर्णमाला में 'अ' स्वर हर व्यंजन में आंतरिक रूप से विद्यमान रहता है।[46]

46 संस्कृत में 'अत्व' शब्द का अर्थ किसी स्वर का 'अ' स्वर में परिवर्तन है। देखें - संस्कृतव्याकरणकोशः - विकिस्रोतः (wikisource.org).

From the imperceptible God emerged Shiva. He was self-supported because he did not need anything or anyone to lean on. From Shiva came the terrible '*Kāla*' which is both time as well as death. It is the ultimate destroyer that destroys all that exists whether it be good or bad. From '*Kāla*' emerged the incomparable void. This is something that can only be experienced, for its splendor cannot be described. From the indestructible God emerged the (anthropomorphic) Shiva, as stated by all the scriptures. From the eternal light emerged Brahma (the anthropomorphic creator) who had no limits and was fearless. The unexpressed God (*Avigati*) brought forth the *Prāṇa* or the life-force. It was this unexpressed that revealed the essence of all the doctrines and principles. It was the life-force from which emerged the mind and the desire. This life-force is also without an end, which is to say, it is eternal. The mind resulted in the 'Word' (the first creative vibration or sound), that is why it is regarded as eternal and un-named. Then, from the Word emerged the air (breath), by controlling which the Yogis achieve detachment from the world. The breath that we take to stay alive is a part of that air, O disciple, it is perfect and undivided. Also, its nature is such that despite being the most fundamental and inherent element in all life (like the vowel 'a' which is inherent in all consonants in the *Devanāgarī* syllabary), it still has no shape or form.[55]

In these lines Baba Kinaram states the emergence of Shiva twice, once as a direct emanation from the imperceptible True Being, where such a Shiva is self-supported and, in a sense, is just an extension of the True Being. In the second instance, Shiva emerges again from the indestructible divine being. This second emergence of Shiva seems to indicate the anthropomorphic form of this deity because the scriptures are said to expound upon it. This is the Shiva that we know as a part of the Hindu Trinity, as being Brahma, Vishnu and Shiva.

55 The word '*atva*' in Sanskrit indicates the change of a vowel into the inherent 'a'. See संस्कृत-व्याकरणकोशः - विकिस्रोतः (wikisource.org).

|| दोहा ||

सुरति माहँ आवै नहीं रति न रहा ठहराइ ।
ऐसो मतो अलेख को क्यों करि जान्यो जाइ ॥ 191॥

वह जो अलक्ष्य ब्रह्म है, वह सरलता से स्मृति में आता नहीं, और आने पर भी वह वहाँ आनंद-स्वरूप ठहरता नहीं। जब उनकी ऐसी गतिविधि है, तो उनको कैसे जाना जा सकता है ॥ **191** ॥

उस सत्यपुरुष का रूप ऐसा ही है कि वह मस्तिष्क या चेतना या स्मृति में सरलता से नहीं आता, और आ भी जाए, तो उसका वहाँ बना रहना दुष्कर है। ऐसा तो उन अलक्ष्य, अदृश्य परम सत्ता का रूप और चरित्र है! ऐसी परिस्थिति में उसका ज्ञान प्राप्त किया भी जाय तो कैसे!

यहाँ बाबा कीनाराम ने जिस 'रति' शब्द का प्रयोग किया है वह संत साहित्य में दो मुख्य अर्थों में प्रयुक्त होता है – एक, प्रेम को इंगित करने के लिये जो पारलौकिक भी हो सकता है, और दो, शारीरिक प्रेम या मैथुन क्रीड़ा की अभिव्यक्ति के लिये। इस दूसरे अर्थ में यह शृंगार रस का द्योतक है। कामदेव, जो शृंगार क्रीड़ा के देव माने जाते हैं, उन की पत्नी रति का नाम इसी शृंगार रस से सिक्त है। किंतु यहाँ, बाबा कीनाराम की अभिव्यक्ति में वह 'निरति' शब्द का लघु रूप है, क्योंकि निर्गुण संत-साहित्य में यह सुरति-निरति के रूप में प्रचलित है। बड़थ्वाल के अनुसार इस शब्द-युगल को छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में पाया जा सकता है। यहाँ सनत्कुमार, जो ब्रह्मा के विमल पुत्र हैं, नारद मुनि को अध्यात्म सिखाते हैं –

> और धीरे-धीरे स्मृति (स्मर), आशा, आत्मा (प्राण) तथा सत्य से लेकर आनंद (भूमा) तक पहुँचा देते हैं। सनत्कुमार ने जिन्हें स्मर, आशा एवं भूमा कहा है वे ही क्रमश: निर्गुणियों की सुरति, विरह व निरति हैं। (बड़थ्वाल 1950, प्रस्तावना, ड)

बड़थ्वाल ने योग-प्रवाह में इन दोनों शब्दों की व्याख्या में लिखा है, "जैसे 'सुरति' की एक सम्भव व्युत्पत्ति 'सुष्ठु रति' है, वैसे ही 'निरति' की नि:शेष या 'निरतिशय रति' भी" (1945, 23-33)। हमें विश्वास है कि बाबा कीनाराम ने 'रति' शब्द का प्रयोग यहाँ इसी अर्थ में किया है।[47]

47 'सुरति' का एक उदाहरण, "रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिये की॥" (रामचरितमानस बालकाण्ड 29.3)। कबीर भी इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग करते हैं, "सुरति समाँणीं निरति मैं, निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार॥" (दास 2000, 11 साखी 5.22)। सुरति-निरति का एक अन्य दृष्टिकोण कैलेवेयर्ट की लेखनी से उद्धृत है। वे लिखते हैं कि नाथ योगियों के लिये सुरति शब्द 'नाद' शब्द का स्मरण कराता है। इसके विपरीत, निरति का अर्थ और उच्च 'शब्द-रहित' अनुभव का द्योतक है (Callewaert 1978, 339)।

|| Dohā ||

surati māhã āvai nahĩ rati na rahā ṭhaharāi;
aiso mato alekha ko kyõ kari jānyo jāi. **191**.

Not easy to come into memory,
nor stable is it in the joy of absorption;
such a doctrine of the Unknowable,
how can it be known. **191**.

It is not perceptible to the mind through oral discourse, nor can it be understood and absorbed in any other state of joy, absorption, or awareness. Such is the knowledge of the indescribable, unknowable divine being, how does one go about trying to perceive it?

The word '*rati*' that Baba Kinaram has used in this verse is used in the literature of the *sants* in two prominent ways: one, as an indication of love, which can be spiritual, and two, as a representation of amorous, physical love, which can be described by the word erotica. Kamadeva is the Hindu god of such erotic love. In the *Purāṇic* literature the word *Rati* is the name of one of the two wives of Kamadeva, the second one being *Prīti*. Therefore, this word's presence could imply an erotic circumstance. But we are certain the word '*rati*' in this couplet refers to '*nirati*', a word which is common in the *nirguṇa* saint literature in the pair *surati-nirati*. According to Barthval, this pair of words can be traced back to the seventh chapter of the *Chāndogya Upaniṣad*. Here, Sanatkumar, who is the son of Brahma, teaches spirituality to Narad by leading him sequentially through the stages of *Smriti* (*smar*) *Āśā*, *Ātmā* (*Prāṇa*), and the Truth as well as *Ānanda* (*Bhūmā*). Barthval mentions that what is described by Sanatkumar as *Smar*, *Āśā* and *Bhūmā* are what the *Nirguṇa* saints call *Surati*, *Viraha*, and *Nirati*. Sanatkumar describes *Bhūmā* as that joy which pulls the seeker away from external objects towards itself. This is the *Nirati* of the *Nirguṇa* saints which leads to the acquisition of the final goal once the *Surati* is awakened (Barthval 1950, *Prastāvanā*, ḍa-ḍha). Kabir uses them in the same way.[56] With this background to the terms *surati* and *nirati*, and the strong conviction that Baba Kinaram intends the word '*rati*' to imply '*nirati*', we have translated it as 'joy'.

56 "*surati samāṇī nirati maẽ, nirati rahī nirdhār. surati nirati paracā bhayā tab khūle syambha duvār*" (*Surati* (memory) dissolved into *nirati* (total awareness), *nirati* continued with self-support. When one becomes familiar with *surati* and *nirati*, then the access doors to that self-born one are opened) Das 2000, 11 *Sākhī* 5.22). Callewaert's writing presents another viewpoint on the word pair *surati-nirati*. He mentioins that for the Nath yogis *surati* "evokes the idea of *nād* (yogic sound); in contrast, the word *nirati* then refers to the higher state of 'soundless experience'" (Callewaert 1978, 339).

5 समाधि अंग[48]

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

जीवन लहि उद्भव समुझि सत पद रहे समाइ ।
अब यह परम समाधि को अंग कहों समुझाइ ॥ 192॥

जीवन धारण कर, अध्यात्म के मूल अवयवों का उद्भव समझ कर, अब सत्य के ही अनुभव में निमग्न रहो। यह परम समाधि का अंग कहा जाता है, इसको समझाकर कहते हैं ॥ **192** ॥

शिष्य के प्रति गुरु का दयालु हृदय-कपाट खुल गया है। उनका उपदेश अभी भी चल रहा है। वे शिष्य से कहते हैं कि तुम्हें जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अब इस जीवन की सार्थकता सिद्ध करो। यह ज्ञान ठीक से समझ लो कि सभी सांसारिक तत्त्वों का उद्भव क्यों और कैसे हुआ है। और यह जान कर फिर केवल सत्य में रमण करो। इसके बाद गुरु कहते हैं कि अब वे शिष्य को बताएँगे कि समाधि का अनुभव कैसा होता है।

48 सन् 1965 में छपे विवेकसार के संस्करण में इस अंग का शीर्षक 'शम को अंग' है। शम का अर्थ शांति होता है। बाद के संस्करणों में इसका शीर्षक 'समाधि अंग' मिलता है।

5 *Samādhi aṅga*: On the Theme of Absorption[57]

The Guru Speaks

|| Dohā ||

jīvana lahi udbhava samujhi sata pada rahe samāi;
aba yaha parama samādhi kō aṅga kahõ samujhāi. **192**.

Having taken birth, realize the origin-source of all
Then absorb yourself in the true state sublime;
Now the way to supreme absorption
I explain for the clarity of mind. **192**.

The Guru has not finished his discourse yet. He instructs the disciple that, now that he has taken birth, or has been honored with the gift of life, he should understand the emergence of all things in the creation, and having understood that process, he should always devote himself to the company of the true reality, the True Being. And then he explains to him the limb of *samādhi* (deep meditative absorption).

57 In the 1965 edition of the *Viveksār*, the title of this section is given as '*śama ko aṅga*'. In the later editions it is give as the '*samādhi aṅga*'.

घट विनसे तें वस्तु सब पट महँ देत दिखाइ ।
घट पट उभय विनास मै वस्तु निरंतर पाइ ॥ 193 ॥[49]

ध्यानावस्था में जब शरीर रूपी घड़े की देह-चेतना लुप्त हो जाती है तब चित्ताकाश के पट में इंद्रियों की सीमा से परे की सभी बातें दिखने लगती हैं। किंतु जब ध्यानावस्थित साधक शरीर और चित्त, दोनों के घट-पट से भी ऊपर उठ और गहन अवस्था प्राप्त कर लेता है, तब उसे उस वस्तु का साक्षात्कार होने लगता है जो अनश्वर है ॥ **193** ॥

संत-साहित्य में शरीर को प्राय: घट, यानी घड़ा, कहकर सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि घड़े के ही समान यह 'मिट्टी' का बना है और इसे टूटते देर नहीं लगती। यह काया का ही रूपक है। उसी प्रकार चित्त में परिलक्षित होने वाले दृश्यों को 'पट' की संज्ञा दी जाती है। गुरु कहते हैं कि ध्यान की गहन अवस्था में जब घट नहीं रहता है, यानी भौतिक शरीर के होने का आभास लुप्त हो जाता है, तो चित्त के पट में सभी सूक्ष्म बातें स्वयमेव दिखाई देने लगती हैं। लेकिन सूक्ष्म होते हुए भी ये बातें अनित्य हैं। जब ध्यान की अवस्था और गहरी हो जाती है, यानी साधक को समाधि लग जाती है, तब शरीर और चित्त, यानी घट और पट दोनों के आभास का लोप हो जाता है। उस समय साधक को जो अनुभव होता है वह उसी शाश्वत सत्ता का अनुभव होता है जो सदा वर्तमान बनी रहती है।

49 तु. दास 2000, 11 साखी 5.28 - , "जा दिन कृतमनां हुता, होता हट न पट । हुता कबीर राम जन, जिनि देखै औघट घट॥"

ghaṭa vinase tẽ vastu saba paṭa mahã deta dikhāi;
ghaṭa paṭa ubhaya vināsa mai vastu nirantara pāi.[58] **193.**

when the awareness of the body is transcended
all can be seen on the canvas of the mind;
When both the body and the mind are transcended
one finds that eternal entity sublime. **193**.

The Guru begins with a philosophical metaphor of the pot (of the body) and the canvas (of the mind), a common occurrence in the *nirguṇ* saint literature. He points out that in the meditative state, when the awareness of the body and the senses becomes totally dissipated, then all the subtle realities can be seen on that canvas which is the limitless sky of the mind. However, when a person loses awareness of both the pot and the canvas of the mind, that is to say, the awareness of both the mind as well as the body, it is in that stage of meditative absorption that the most subtle everlasting reality can be perceived.

58 Comparable to Das 2000, 11 *Sākhī* 5.28, "*jā din kṛtamanā̃ hutā, hotā haṭa na paṭa; hutā Kabīr rām jan, jini dekhai aughaṭa ghaṭa*" (on day when the mind transcends, all illusions disappear; on becoming one with Ram, Kabir sees that body difficult to perceive).

स्वाँस समानो प्रान मो शब्द शब्द ठहराइ ।
प्रान समानो प्रान मो ब्रह्म ब्रह्म महँ जाइ ॥194॥

ध्यान के गहरे होने की इस प्रक्रिया में सभी अवयव जिनके उद्गम का क्रम गुरु पहले बता चुके हैं, वे अपने-अपने स्रोत अवयव में क्रम से समाने लगते हैं। इस प्रक्रिया में श्वास प्राण में अंतर्निहित हो जाता है, शब्द अपने स्रोत शब्द से एकाकार हो जाता है। प्राण की चेतना अपने स्रोत प्राण में चली जाती है, और ब्रह्म स्वयं ब्रह्म से एक हो जाता है ॥ **194** ॥

अब गुरु आगे की प्रक्रिया समझाते हैं। जैसे-जैसे ध्यान और गहरा होता जाता है, ध्यानमग्न साधक का श्वास वैसे-वैसे छिछले से और छिछला होता जाता है, यहाँ तक कि, अंततः, उसका श्वास और उसकी प्राण-वायु एक हो जाते हैं। जिस मंत्र का वह जप कर रहा है उसका ध्वन्यात्मक स्पंदन इस सृष्टि में जिस शब्द का स्पंदन व्याप्त है, उस से एकाकार हो जाता है। उस साधक का प्राण या जीवन-शक्ति ब्रह्माण्ड में व्याप्त प्राण-शक्ति के साथ एक हो जाता है और वह ब्रह्म की स्थित को छूने लगता है। उस ब्रह्म की स्थिति तो ऐसी होती है जिसे वह ब्रह्म ही अपने अंतरतम में एक होकर जानता है।

svā̃sa samāno prāna mo śabda śabda ṭhaharāi;
prāna samāno prāna mo brahma brahma mahā̃ jāi. **194***.*

(Then) breath retreats into the Vital-air
chant of the mantra one with the cosmic hum;
The life force enters its source of origin
The (extroverted) returns to the inner *brahman*. **194**.

He then narrates the process of what happens at this stage as the meditative seeker's breath becomes shallower and shallower, finally becoming one with the life-breath or the life-force within the body. The mantra that the seeker meditates on, becomes one with the sonic vibration permeated in the cosmos. The life-force of the individual becomes one with the life-force that is eternal in the universe, and the creator of the universe, *Brahman*, reverts to its own original state which is formless and all pervasive.

हंस समानो हंस मो अबिनाशी अबिनाश ।
काल समानो सुन्न में निर्भय सदा निराश ॥195॥[50]

वह कर्मफल-बद्ध जीव अपने बंधनों से छूट अपनी हंस अवस्था में चला जाता है, जो शरीर में अविनाशी की छाया है वह सृष्टि के अविनाश से मिल जाती है। वह सदा निर्भय और जगत के प्रति उदासीन काल शून्य में लुप्त हो जाता है ॥ **195** ॥

जीव के शरीर में विद्यमान आत्मा, जिसे हंस कहते आए हैं, वह इस सृष्टि में व्याप्त परमहंस से एकात्म हो जाता है। चूँकि ये दोनों तत्त्व अनश्वर हैं, वस्तुत: एक ही हैं, ये भी उस परमात्मा की अविनाश वाली अवस्था के साथ एक हो जाते हैं। नाश न होने की अवस्था में काल का कोई अर्थ नहीं रह जाता है, इसलिये वह काल भी शून्य में समाकर एक हो जाता है, जिसे विद्वानों ने ब्रह्मरंध्र का अनुभव बताया है। एक हुए काल और शून्य अपने आप में होने के कारण सदा भय से परे, और सब प्रकार की मोह-माया की आशा-निराशा से विहीन रहते हुए स्थित होते हैं। तात्पर्य यह कि साधक भी इस अवस्था में ऐसी ही भयमुक्त और मोह-मुक्त अवस्था का अनुभव करता है।

50 सिंह 2010, 167 - सुंनि = ब्रह्मरंध्र। कमल सिंह शून्य को ब्रह्मरंध्र का द्योतक मानते हैं।

haṁsa samāno haṁsa mo abināśī abināśa;
kāla samāno sunna mẽ nirbhaya sadā nirāś.[59] **195**.

The swan unites with the Supreme-swan
The imperishable in the body with the Eternal-One;
Time dissolves in the fathomless Void
A fearless state without passion. **195**.

The swan (embodied soul) becomes one with the universal spirit, the indestructible element in the pot of the body becomes one with the indestructible True Being. Time (or death) disappears into the void. Since *Kāl* (time/death) is the most feared entity in the creation, for itself it has no fear, neither does it have any attachment or hope towards the world. It remains completely dispassionate. This would imply that at the time of such union within his own body, in the *brahmarandhra*, the practitioner also experiences such fearlessness.

59 Singh 2010, 167 *suṅni* = *brahmarandhra*. Kamal Singh considers the void (*śūnya*) to be the same as the *brahmarandhra*.

पवन समानो पवन महँ जीव शीव घर पाइ ।
शीव निरंजन महँ सदा सब विधि रह्यो समाइ ॥196॥

शरीर का पवन ब्रह्माण्ड के पवन से एकाकार हो जाता है, जीव शिव की संज्ञा पा जाता है। शिव स्वयं पूर्णतया निरंजन की अलक्ष्य अवस्था में चले जाते हैं ॥ **196** ॥

इस प्रकार साधक का श्वास जो शरीर के भीतर है वह बाहर उपस्थित पवन के साथ एक हो जाता है। वह साधक अब जीव-संज्ञा से उपराम होकर शिव-संज्ञा को प्राप्त होता है। लेकिन गुरु पहले ही बता चुके हैं कि शिव की निरंजन के साथ एकात्मता होती है, इसलिये जब साधक का ध्यान और गहन हो जाता है तो वह भी शिव की उस अपने आप में ही खोयी हुई सी, अव्यक्त, अलक्ष्य, निरंजन अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जैसी कि उस निरंजन की अवस्था सृष्टि रचना के पहले थी। ।

pavana samāno pavana mahã jīva Śīva ghara pāi;
Śīva nirañjana mahã sadā saba vidhi rahyo samāi. **196**.

The breath in the body one with the air in the cosmos,
The living-being finds God Shiva's abode;
Shiva himself, in every way,
remains one with the invisible God. **196**.

The breath of the person, which outside of the body is air, becomes one with the air of the universe and the embodied soul experiences the state of being of the God Shiva. At the same time, as the meditative absorption becomes even deeper, this notion of the Shiva-hood is replaced with the experience of being one with the imperceptible True Being who is the source of all creation.

निरंजन तब निराकार महँ रहै समाइ विशेष ।
निराकार अविगति मिल्यौ जाको मतो अलेख ॥197॥

निरंजन उस समय अपने निराकार रूप में एक विशेष प्रकार से लौट जाते हैं। निराकार अविगति से एकाकार हो जाते हैं, और उस अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ **197** ॥

ध्यान में गहरी समाधि का अनुभव, काल के परे जाने के बाद भी चलता रहता है। शिव के निरंजन रूप में समा जाने के बाद जब निरंजन स्वयं अपने निराकार रूप में समा जाते हैं, तो साधक को भी उस निराकार अवस्था का अनुभव-जनित ज्ञान हो जाता है। निरंजन की वह निराकार अवस्था फिर अविगति, यानी निरंतर वर्तमान बने रहने की वह अवस्था जो कभी 'विगत', भूतकाल, नहीं होती अर्थात एक नाशहीन अवस्था, से एक हो जाती है। यह एक ऐसी अवस्था होती है जिसके बारे में कुछ भी कह पाना सम्भव नहीं है।

nirañjana taba nirākāra mahã rahai samāi viśeṣa;
nirākara avigati milyau jāko mato alekha. **197**.

The Imperceptible God in a special way
becomes as one with the Formless-One;
The Formless unites with the one Without-End
And no account can be given of this state. **197**.

Going even deeper, the experience of being one with the imperceptible True Being leads to the experience of the formless God. The formless God, called *Avigati*, implies that it remains ever present, that is to say, it is eternal and it just cannot be described. However, the seeker in this meditative state experiences this state of the formless God, even though there is no way of describing it having experienced it.

अनहद अबिनाशी महँ संतत रहे अभेद ।
अबिनाशी तब आपु महँ समुझि समानो वेद ॥198॥

अनहद और अविनाशी में कभी कोई भेद या अंतर नहीं होता। तब अविनाशी अपने आप में समा जाते हैं, यह मत वेदों में भी प्रतिपादित है ॥ **198** ॥

सृष्टि रचना का पहला चरण, वह नाद, सदा उस अविगति की अविनाशी स्थिति में अव्यक्त रूप से बना रहता है, लेकिन समाधि की अवस्था में साधक को इस का ज्ञान हो जाता है। और वह अविनाशी, वह तो सदा अपने आप में ही विराजमान है। वहीं उसकी नित्य उपस्थिति बनी रहती है जो कभी अनित्य नहीं होती, जैसा कि वेद भी कहते हैं।

anahada abināśī mahã santata rahe abheda;
abināśī taba āpu mahã samujhi samāno veda. **198**.

The unstruck-sound and the Indestructible God
Are one with the other, always indistinguishable;
In that condition the Indestructible One
Remains within itself, say the *Veda*s. **198**.

In deep meditation, one can experience that unstruck sound at that stage, because that unstruck sound is always a part of the imperishable one, there is no difference between the two. The imperishable one, of course, is one with itself, as the scriptures, the *Vedas*, have also described.

नहीं दूर नहिं निकट अति नहीं कहूँ अस्थान ।
वेदी पै दृढ़ गहि करै जपै सो अजपा जान ॥ 199 ॥[51]

यह सारी प्रक्रिया जो साधक के शरीर में ही चल रही है, न उस साधक से दूर ही है, न पास। इस अवस्था तक पहुँचने के लिये उसे बस अपने आसन पर दृढ़ता से विराजमान रहकर अजपा मंत्र का जप करते रहना है, इसी से ज्ञान का उदय होता है ॥ **199** ॥

समाधि का यह जो अनुभव है, चूँकि यह इस काया के भीतर ही हो रहा है, इसलिये इसे न दूर कहा जा सकता है, न पास। शरीर के अंदर होने के कारण दूर तो नहीं ही है, लेकिन ध्यान की उस अवस्था तक पहुँचने का मार्ग लम्बा होने के कारण, दूर लग भी सकता है। ऐसा भी नहीं है कि यह अनुभव किसी स्थान विशेष में ही होता है। यह तो काया के भीतर है, कभी भी, कहीं भी हो सकता है। इसका अनुभव पाने के लिये आवश्यक यह है कि साधक अपने आसन पर दृढ़ता से बैठे, वहाँ बहुत अधिक शारीरिक उपक्रम न करता रहे, और इस प्रकार सुख से बैठकर अपनी श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया के साथ ही उस (सोऽहं) मंत्र का अजपा जप करता रहे। वही सही ध्यान भी कहा जाएगा।

51 तु. बड़थ्वाल 1960, 103 सं. 2, "मूल चापि डिढ आसणि बैठा, तब मिटि गया आवागवनं।" अजपा-जप के लिये देखें गोरख-बानी सबदी, 7, संख्या 18 "अजपा जपै सुंनि मन धरै, पांचौं इंद्री निग्रह करै।" सोहं-हंसा मंत्र के लिये देखें सबदी,. 17 संख्या 46 "सोहं हंसा सुमिरै सबद। तिहिं परमारथ अनंत सिध।" प्राण संगली में भी 'सोहं' मंत्र का उल्लेख है। देखें, प्राण संगली-हिन्दी के पृष्ठ नं. 71 पर राम-कली–महला 1 - पौड़ी नं. 42

ऐसा संग्रथु को नही किसु पहि करउँ बिनंतू
पूरा सतिगुर सेव तूँ गुरमति सोहं मंतू 42।।

प्राण संगली-हिन्दी रामकली–महला 1 - पौड़ी नं. 27
सोहं जाप जपै दिन राता। मन ते त्यागै दुबिधा भ्रांता।।27।।

नानक साहब कहते हैं कि [...] केवल सोहं का जाप दिन-रात करना चाहिए तथा मन की दुविधा त्याग कर स्वांस को आते तथा जाते नाम के साथ जाप करें। http://kabirsahib.blogspot.com/p/265-1-2-3-1-2-3-4-17.html.

nahĩ dūra nahĩ nikaṭa ati nahĩ kahũ asthāna;
vēdi pai dṛṛha gahi karai japai so ajapā jāna.[60] **199**.

(that God) is neither far nor close at hand
Nor does it have any particular place;
one who stays steadfast in their posture
knows, meditating on the unchanted chant. **199**.

Thus, the Guru says, that divine being and that divine experience is not inaccessible. It is neither very far, nor is it very close because it all happens truly within this body. Its experience is not dependent on any particular place either, because it can happen anywhere and at any time. It is an experience which can be had only when one maintains their meditative posture firmly and repeats the unchanted mantra (*so-haṁ*) with every breath, maintaining an awareness of the divine being at all times, thus reaching a stage where the seeker becomes like the object of their devotion they seek so earnestly.

60 Comparable to Barthval 1960, 103 v. 2. For a translation of this *Pad* which stresses the idea of sitting firmly in the *āsan*, or meditative posture, see Djurdjevic, Singh 2019, *Pad* 14.2. For *ajapā jap* see Djurdjevic, Singh, *sabad* 18. For the *so-haṁ-haṁ-sa* mantra, see *sabad* 46. A mention of the '*so-haṁ*' mantra can be seen in *Prāṇa Saṅgalī*-Hindi, *Ramkalī Mahalā* 1, *Pauṛī* nos. 27 and 42.

आपु विचारै आपु में आपु आपु महँ होइ ।
आपु निरंतर रमि रहै यह पद पावै सोइ ॥200॥[52]

ध्यान की इस अवस्था में साधक सृष्टि रचना आरम्भ होने की पूर्व अवस्था में पहुँच जाता है। अब वहाँ बस वही है। वह आत्मकेंद्रित होकर अपने पर ही विचार करता है। वहाँ न कुछ पाना है न खोना है, इसलिये वह अपने आप के साक्षात्कार के आनंद में रमा रहता है ॥ **200** ॥

ऐसी अवस्था पा जाने के बाद फिर क्या पाना शेष रह जाता है? कहने का उद्देश्य यह है कि अब कुछ भी और पाना शेष नहीं रहता। ऐसा साधक अब अपना चिंतन अपने आप में ही करता है, वह अपने आप में ही स्थिर बना रहता है। उसको सम्पूर्ण सृष्टि का दर्शन अपने ही भीतर होता है, इसलिये बाहर की सृष्टि में उपस्थित अनित्य वस्तुओं के लिये उसको कोई आकर्षण नहीं होता। वह तो बस अब अपने आप में रमता रहता है, अपने आप में संतुष्ट रहता है, अपने आप में आनंद का अनुभव करता है। यही इस पद को पाने की विशेषता है। यही समाधि में तन्मय हो जाना होता है।

52 तु. द्विवेदी, 1960, 65 पाद-टिप्पणी 3, "आपैमें तब आपा निरख्या अपनपैं आपा सूझ्या । आपै कहत सुनत पुनि अपना अपनपैं आपा बूझ्या। अपनै परचै लागी तारी अपनपै आण्समांनां। कहै कबीर जे आप बिचारै मिटि गया आवन-जांनां॥"

āpu bicārai āpu mẽ āpu āpu mahã hoi;
āpu nirantara rami rahai yaha pada pāvai soi.[61] **200**.

In this state they reflect upon the Self
absorbed deeply within their Self;
The endless joy of union with the Self
Is the state they are able to achieve. **200**.

Such a person then does not run after the attractions of the world or bother with the numerous philosophies or doctrines. They remain within themselves and meditate upon themselves because the godhead can be experienced only within. Having accessed that experience they remain in ecstatic absorption within because there is nothing else outside to seek in this created universe.

61 Comparable to Dwivedi 1960, 65 fn. 3, "*āpaimẽ taba āpā nirakhyā apanapaĩ āpā sūjhyā; āpai kahata sunata puni apanā apanapaĩ āpā būjhyā. apanai paracai lāgī tārī apanapai āṇsamā̃nā̃, kahai Kabīr je āpa bicārai miṭi gayā āvana-jā̃nā̃*" (they see themselves within themselves and understand their truth within. They converse with themselves within and understand it also within. When one knows oneself in this way, they become one with themselves. Kabir says one who knows in this way, becomes free from the cycle of rebirths).

6 अजपा अंग

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

जग कारन निस्तार हित मोंहिं मोंहिं माहँ बताइ ।[53]
दृढ़ करि जान्यौ सत्य पद जरा मरन बिसराइ ॥ 201॥

रचित संसार कर्म करने और विषयभोग का कारण है, इसी से मेरा उद्धार करने के लिये गुरु ने मुझको मुझमें ही दिखा दिया। अब मैं उस परम सत्य की अवस्था को भलीभाँति समझ कर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो गया हूँ ॥ **201** ॥

ब्रह्मबिन्दूपनिषद् की श्लोक संख्या 2 में कहा गया है,

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो । बंधाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है, - मन ही सभी मनुष्यों के बंधन एवं मोक्ष का मुख्य कारण है। विषयों में आसक्त मन बंधन का, और कामना-संकल्प से रहित मन ही मोक्ष (मुक्ति) का कारण कहा गया है (देखें वशिष्ठ तिथि अज्ञात, सं. 2) । कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि-रचना में देह और इंद्रियाँ, दोनों का निर्माण हुआ। देह है तो आवश्यकताएँ भी हैं, और उनकी पूर्ति के लिये कर्म करना पड़ता है। कर्मों के लिये इंद्रियाँ अपेक्षित हैं। इंद्रियाँ विषयभोग की ओर प्रेरित करती हैं, और जीव संसार के पाश में जकड़ जाता है। इस दोहे में बाबा कीनाराम भी इसी आशय की बात छोटे में 'जग कारन निस्तार हित' कह कर रहे हैं।

जब गुरु ने अपनी वाणी को विराम दे दिया, तो शिष्य कुछ कहने को मुखरित हुआ। बहुत ही कृतज्ञता से उसने गुरु से निवेदन किया कि मुझको कर्म-कारण-फल के तंत्र पर आधारित इस जगत के चंगुल से निकालने के लिये आपने मेरे सत्य रूप का दर्शन स्वयं मेरी अपनी काया में ही करा दिया। आपकी इस करुणा का फल यह है कि अब मैं उस अनश्वर सत्य की सत्ता से भलीभाँति परिचित हो गया हूँ। काल के भी शून्य होने के बाद की जो अविगति की अवस्था थी उसका भी अनुभव मैंने कर लिया है, इसलिए अब मुझे विश्व-प्रपंच, जैसे कि जन्म और बुढ़ापा और मृत्यु, इनमें से किसी भी वस्तु का भय नहीं है।

53 छंद-शास्त्र की मात्रा गणना के अनुसार इस चरण की 'मोहिं मोहिं' अभिव्यक्ति को गुरु मात्रा के रूप में न लेकर लघु मात्रा के रूप में लेना उचित जान पड़ता है। इसलिये लेखक ने इसकी मात्रा लघु इंगित करने के लिए 'मोंहिं मोंहिं' मात्रा का उपयोग किया है। लेखक इस सुझाव के लिये प्रो. रुपर्ट स्नेल का आभार व्यक्त करता है।

6 *Ajapā aṅga*: On the Theme of the Unchanted Chant

The Disciple Speaks

|| Doha ||

jaga kārana nistāra hita mŏhĩ mŏhĩ māhã batāi;[62]
dṛṛha kari jānyau satya pada jarā marana bisarāi. **201**.

To free me from the claws of the world
The Guru helped me discover myself in me;
Now I know the True State firmly
That is beyond death and disease. **201**.

The second verse of the *Brahmabindūpaniṣad* states:

mana eva manuṣyāṇāṃ kāraṇaṃ bandhamokṣayoḥ |
bandhāya viṣayāsaktaṃ muktyai nirviṣayaṃ smṛtam |

In the explanation of its meaning, it is said that the mind is the cause or reason (*kāraṇaṃ*) for the bondage or the liberation of human beings. If they are engrossed in enjoying the numerous pleasures of the world, they are in bondage, but if they transcend passions and desires, they become free from this bondage, and become liberated (see Joshi et al. 2016, 354). Something very close to this idea is being expressed by Baba Kinaram in this verse, where he says '*jaga kārana nistāra hita*' (to liberate me from the *kārmic* causality of the world), because, as we know by now, in the process of creation both the body and the senses were also created. The body has needs which need actions (*karma*) to satisfy them. To perform actions, the senses are needed. But often, the senses have a mind of their own, become entangled in enjoying the numerous delights of the world and the poor human being becomes helplessly tied up. But in the verse above, Baba Kinaram has reversed this process and become liberated from the body and the sense, that is to say, 'the cause of bondage of the world'.

The disciple now responds to the Guru. He tells the Guru, to liberate the disciple from the cause-effect nature of the world, the Guru has shown him how to discover himself within his own self. He has experienced even time and death become one with the eternal void, as also the ever eternal and new form of the Indestructible True Being. This has given him a really strong understanding of the True State, for his thinking has now transcended the plight of old age and even the idea and thought of death that plagues those who have only a physical body-centered intellect.

62 From the point of view of '*mātrā* count' in the meter of this verse, the words '*mohĩ mohĩ*' need to be read with the short 'o' *mātrās*. So we have transliterated these words as '*mŏhĩ mŏhĩ*'. The author is deeply grateful to Prof. Rupert Snell for this insight.

बहुरि एक मोहिं ते और कहिये प्रभु अबिनास ।
अजपा जप कैसे करिय कीजै कृपा निवास ॥202॥

पुनः, मुझसे एक बात और कहिये हे अनश्वर गुरुदेव! हे कृपानिधान, अजपा जप कैसे किया जाता है? ॥ **202** ॥

गुरु ने शिष्य से पहले ही अजपा जप का उल्लेख किया हुआ है। अब वह अपने गुरुदेव, जिनको कि वह अनुभव कर चुका है कि वे उस अविनाशी प्रभुसत्ता से भिन्न नहीं हैं, उन से जानना चाहता है कि इस प्रकार का अजपा जप किस तरह से किया जाता है? क्या इसकी कोई विशेष विधि या प्रक्रिया है? यही वह अपने करुणामूर्ति गुरु से पूछता है।

bahuri eka mohĩ te aura kahiye prabhu abināsa;
ajapā japa kaise kariya kĩjai kr̥pā nivāsa. **202***.*

Please dwell on one more subject for me
O Lord, you, who are Imperishable;
tell me how to chant the unchanted chant
O treasure-house of compassion. **202**.

He continues – But, O imperishable Lord, please tell me one more thing. Shower your grace on me and instruct me on how to meditate on the mantra which is known as the silent or un-chanted chant. [The Guru has already mentioned the un-chanted (*ajapā*) chant earlier].

* गुरु वाक्य *

|| चौपाई ||

सुनु शिष अजपा जाप जो होई । तोह बुझाइ कहत हौं सोई ॥203॥
और एक कहि मंत्र बिचारा । अभिजित नखत राम अवतारा ॥204॥
सो अध्यातम महँ ठहराई । दस अवतार कथा जो गाई ॥205॥
सो शिष तोहिं कहत हौं अबहीं । सोऽहं मंत्र न संशय कबहीं ॥206॥

सुनो शिष्य, मैं तुमको समझाकर अजपा जप के विषय में कहता हूँ ॥ **203** ॥ एक और मंत्र विचार करने योग्य है। अभिजित नक्षत्र में राम का अवतार हुआ था, उनका नाम भी मंत्र-रूप है ॥ **204** ॥ उनको अध्यात्म में प्रमुख पद मिला हुआ है, वे राम, जिनकी कथा दस अवतारों की कथा में गाई जाती है ॥ **205** ॥ हाँ तो शिष्य, अब मैं तुमसे कहता हूँ, अजपा मंत्र सोऽहं है, और इसमें कोई शंका का प्रश्न नहीं है ॥ **206** ॥

पुनः, गुरु शिष्य की प्रार्थना स्वीकार करते हैं। वे चौपाइयों का उपयोग कर शिष्य को एक नहीं, अपितु दो मंत्रों से अवगत करा देते हैं। वे समझाकर कहते हैं कि सुनो, मैं तुम्हें एक और मंत्र का विचार कर के बता रहा हूँ। यह उस राम का नाम है, जिस राम ने अभिजित नक्षत्र में अवतार लिया था। आध्यात्मिक जगत में उनकी उपस्थिति, और उनका नाम, एक केंद्रीय धुरी की तरह स्थापित है। यह राम उन्हीं दस अवतारों में से एक हैं जिनका गुणगान सभी लोग करते हैं (महाकाव्य रामायण के अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में)। उन राम के नाम का ध्यान कर लेने के बाद अब मैं तुम्हें बताता हूँ, वह अजपा मंत्र 'सोऽहं' है, और तुम्हें इस विषय में कभी कोई संशय नहीं होना चाहिये।

The Guru Speaks

|| caupāī ||

sunu śiṣa ajapā jāpa jo hoī; toha bujhāi kahata haũ soī. **203.**
aura eka kahi mantra bicārā; abhijita nakhata Rāma avatārā. **204.**
so adhyātama mahã ṭhaharāī; dasa avatāra kathā jo gāī. **205.**
so śiṣa tohĩ kahata haũ abahĩ̃; so'haṁ mantra na saṁśaya kabahĩ̃. **206.**

Listen disciple, the unchanted chant which exists;
I explain it to you for your understanding. **203.**
And then there is one more mantra to think about;
Rāma incarnated under the Abhijit constellation. **204.**
His name (*Rāma*) is held at the center of spirituality;
His is one of the ten incarnations that are sung about. **205.**
So disciple I tell you now;
in the *so`ham* mantra, there is never any doubt. **206.**

The Guru does not disappoint the disciple. He explains to the disciple at length, how to meditate on the mantra which leads to the 'un-chanted' chant. But before the Guru gets to the 'un-chanted chant' he asks the disciple to think about one more mantra, the name of the Lord 'Rama' who is the hero of the epic *Ramayana* in India. He tells the disciple that the name of Lord Rama is itself a mantra and informs him that Rama was born under the asterism which is known as '*Abhijit*'.[63] Rama, as an incarnation of Lord Vishnu, is also at the center of all the incarnation episodes mentioned in the scriptures and which are often sung by devotees as meditative chants. And then the Guru mentions the 'un-chanted' mantra to the disciple, telling him, it is, '*so'haṁ*', and that he should never have any doubts about it.

63 Abhijit is the 22nd lunar mansion out of 28 in the Indian system of *nakṣatra* (lunar asterism). Abhijit is the Sanskrit name for Vega, the brightest star in the northern constellation of Lyra. Abhijit means "the victorious One" or "the One who cannot be defeated" in the Mahabharata (Harivamsa). (Abhijit (nakshatra) – Wikipedia: `https://dbpedia.org/page/Abhijit_(nakshatra)`).

* मंत्र – ऊँ रों सोऽहं सहं । इति विज्ञान मंत्र *

|| चौपाई ||

शिष ओंकार जानि कर लेहु । सो सस्तवनन्हि दृढ़ व्रत देहु ॥207॥
हं हृदये गहि सत्य बिचारै । रं रंकार रसना उच्चारै ॥208॥
रहै निरंतर अंतर खोई । सब तेहि महँ सब महँ है सोई ॥209॥
यह बिचार सुनि सदा दुहेला । रमै राम महँ होइ अकेला ॥210॥[54]
बरनाश्रम को भेद न राखै । बानी सत्य सहज सो भाखै ॥211॥
सहं शब्द समुझि सो गहई । जाति पाँति कुल कर्म को दहई ॥212॥
सहज मुखाकर मंत्र कहावै । जाहि जपे तें बहुरि न आवै ॥213॥
सहज प्रकाश निरास अमानी । रहनि कहों यह अजपा जानी ॥214॥
जहाँ तहाँ यह मंत्र बिचारै । काम क्रोध की गरदन मारै ॥215॥

शिष्य, इस सम्पूर्ण मंत्र की प्रथम ध्वनि ऊँकार को ग्रहण करो और तब 'सो' शब्द की ध्वनि पर सादर ध्यान केंद्रित करो ॥ **207** ॥ 'हं' शब्द की ध्वनि को हृदय में धारण करते हुए उस परम सत्य का चिंतन करो। 'रं' शब्द की ध्वनि का जिह्वा द्वारा उच्चारण करो ॥ **208** ॥ लगातार अपने ही अंतरतम में आत्मचिंतन में खोये रहो, क्योंकि सभी कुछ वहीं पाने योग्य है, और सभी कुछ में वही विद्यमान है ॥ **209** ॥ सुनो, यह विचार, एकांत में राम नाम में रमण करना, सदा कठिन होता है ॥ **210** ॥ इस अभ्यास में वर्णाश्रम का भेद नहीं माना जाता है, और सदा सत्य सम्भाषण ही किया जाता है ॥ **211** ॥ जो 'सऽहं' मंत्र को समझ कर आत्मसात् कर लेता है, वह जाति-पाँति इत्यादि के सभी कर्मों को भस्म कर देता है ॥ **212** ॥ इस मंत्र का उच्चारण मुख में स्वत: होता रहता है, जो इसका ध्यान से जप करता है वह मुक्ति पा जाता है ॥ **213** ॥ अजपा जप का अनुसरण करने वले की जीवन शैली उस सत्य के प्रकाश से आलोकित, बिना मान-सम्मान की इच्छा के, विश्व के प्रति आकर्षित हुए बिना जीने की होती है ॥ **214** ॥ ऐसा व्यक्ति जहाँ भी इस मंत्र पर ध्यान लगाता है, वहाँ वह काम-क्रोध का उच्छेदन कर देता है ॥ **215** ॥

गुरु समझाते जाते हैं, हे शिष्य, 'ऊँकार' को जानो, और उसका अभ्यास करो। 'सो' ध्वनि को दृढ़तापूर्वक आदर से अपनी स्मृति में बनाए रखो। 'हं' ध्वनि का, सत्य के रूप का चिंतन करते हुए, अपने हृदय में स्पंदन होने दो। अपनी जिह्वा से 'रं' मंत्र का उच्चारण करो। अपने मन को इधर-उधर भागने न दो, उसे अपने ही में रखकर अपने में खोए रहो, अपने में क्या घट रहा है उसी पर ध्यान दो, क्योंकि पाने योग्य जो कुछ भी है, वह वहीं पाया जा सकता है। ऐसा करना कठिन अवश्य है, लेकिन असम्भव नहीं, और अभ्यास से इसे सरलता से किया जा सकता है। इस अभ्यास को हृदयंगम करने के लिये प्रभु राम, और उनका नाम, जो स्वयं एक मंत्र है, उनमें रमे रहो। इसके लिये तुम्हें एकांत का भी प्रयास करना होगा, तभी तुम्हारा अभ्यास परिपक्व हो पाएगा।

यह तो हुई आध्यात्मिक अभ्यास की बात। लेकिन शरीरधारी साधु भी शून्य में तो रहता नहीं। उसे भी अन्य लोगों से व्यवहार करना पड़ता है। तो अब गुरु शिष्य को साधना के सामाजिक, व्यावहारिक सूत्रों का ज्ञान देते हैं, जो अवधूत मत में सर्वग्राह्य माना जाता है। वे कहते हैं हे शिष्य, तुम वर्ण पर आधारित जाति प्रथा का अनुसरण बिल्कुल भी न करना। सबके साथ न केवल समदर्शी रहना बल्कि समवर्ती रहते हुए सबसे एक समान व्यवहार करना। सदा सत्य बात ही कहना, वितण्डावाद को त्याग कर सहज रहना, ताकि सत्य का साथ तुम्हारे लिये प्राकृतिक हो जाय।

'सहं' शब्द को ठीक से समझ लेना। जब श्वास अंदर जाती है तो 'सो' की ध्वनि करते हुए त्रिकुटी की ओर दौड़ती है। जब बाहर आती है तो 'हं' की ध्वनि व्याप्त हो जाती है। यह प्राकृतिक मंत्र है इसलिये ऐसा सहज रूप से स्वयं होता रहता है, इसे करने की आवश्यकता नहीं होती। इसमें अभ्यस्त होते हुए, समाज में जाति-पाँति, कुल-परिवार पर आधारित भेद-भाव और विषमताओं को अपने व्यवहार में भस्म कर देना। 'सहं' मंत्र का जो इस प्रकार जप करता है वह सांसारिक आवागमन से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार का, संसार में रहते हुए भी उससे निस्पृह रहनेवाला जीवन, मान-सम्मान को प्रश्रय न देनेवाला जीवन, एक साधु के लिये सही 'रहनी' होता है। ऐसा व्यक्ति जहाँ भी इस मंत्र का विचार करता है, वहाँ वह काम-क्रोध जैसी मनुष्य की दुर्बलताओं को धूल चटा देता है।

54 दुहेला शब्द संस्कृत के दु:ख शब्द से उद्भूत है, किंतु इसका एक अर्थ कठिन या मुश्किल काम भी होता है। हमने यहाँ इस शब्द का यही अर्थ लिया है।

* *Mantra – Oṁ rõ so`haṁ sahaṁ.* The mantra of discernment. *

|| caupāī ||

śiṣa õkāra jāni kara lehu; so sastavananhi dṛṛha vrata dehu. **207.**
haṁ hṛdaye gahi satya bicārai; raṁ raṅkāra rasanā uccārai. **208.**
rahai nirantara antara khoī; saba tehi mahã saba mahã hai soī. **209.**
yaha bicāra suni sadā duhelā; ramai Rāma mahã hoi akelā.[64] **210.**
baranāśrama ko bheda na rākhai; bānī satya sahaja so bhākhai. **211.**
sahaṁ śabda samujhi so gahaī; jāti pẽti kula karma ko dahaī. **212.**
sahaja mukhākara mantra kahāvai; jāhi jape tẽ bahuri na āvai. **213.**
sahaja prakāśa nirāsa amānī; rahani kahõ yaha ajapā jānī. **214.**
jahẽ tahẽ yaha mantra bicārai; kāma krodha kī garadana mārai. **215.**

O disciple, first remember the mantra '*Om*';
Then hold on to the mantra '*So*' with firm resolve. **207.**
Think 'Truth' in your heart with the vibration of the mantra '*haṁ*';
Use your tongue to articulate the mantra *raṁ*. **208.**
In this way remain absorbed within;
Everything is in that, that is in everything. **209.**
It is always a difficult practice to observe;
To stay in solitude absorbed in God. **210.**
Such a person does not discriminate based on caste;
their speech speaks the truth and in simple words. **211.**
One who understands and holds the mantra '*So'Ham*';
Burns away the *karmic* debts of the caste and the family. **212.**
It is called a mantra that resonates naturally in the mouth;
those who chant it constantly, truly become released. **213.**
The style of the unchanted mantra chanter's life;
Consists of the light of bliss, detachment, and is without pride. **214.**
on this mantra wherever they meditate;
Passion and anger they decisively decimate. **215.**

O disciple, cultivate the knowledge of the sound 'OM', and fix your resolve with devotion on the sound '*So*'. Hold the sound '*haṁ*' in your heart as you meditate on the truth, and with your tongue, pronounce the mantra '*raṁ*'. Instead of letting your mind and your senses wander towards external attractions, remain absorbed in what is happening within you, because it is in there that you will discover everything. It is a difficult task to achieve, but not impossible. So, you should always seek solitude and exult in the company of Ram, the mantra as well as the God, within you.

However, no seeker exists in a vacuum. They must interact with other people. So now, the guru explains the social aspects of this spiritual practice. He says, for this practice to bear fruit, you need to transcend the social categorization based on caste which derives from the ancient *varṇa* system of social categorization, and behave in an egalitarian manner with everyone. Burn up all the causes and effects that arise from this notion of caste and discriminatory behavior. Always speak the truth so that it becomes second nature to you.

64 Callewaert (2009), दुहेला (*duhelā*) – 1. adj. difficult 2. Pain (being inflicted upon someone) 3. Difficult task or game 4. Difficult to obtain.

Hold the sound of the mantra '*sa`haṁ*' after understanding it well. Dwell on the sound '*so*' as you breathe in, and on the sound '*haṁ*' as you breathe out, because it is regarded as a natural mantra, it happens automatically in your mouth. Whoever practices this mantra with absorption, transcends the natural karmic processes of birth, death and rebirth. Such a person becomes liberated. By this mode of living in the world without having any hopes and desires from it, and remaining without pride and ego, by practicing the 'unchanted' chant, one achieves easily the light of knowledge. Whoever dwells and holds this mantra constantly with one's breath, that person decisively defeats the evils of lust as well as anger.

|| दोहा ||

यथा योग्य व्यवहार को जानि रहै निस्प्रेह ।
अभय असंक असोच ह्वै जानै अजपा येह ॥216॥

परिस्थिति के अनुसार योग्य व्यवहार को जानकर ऐसा व्यक्ति निस्पृह बना रहता है। अजपा मंत्र को जानकर वह भय, शंका, और चिंताओं से मुक्त जीवन जीता है ॥ **216** ॥

गुरु सामाजिक व्यवहार की बात को और विस्तार से समझाते हैं। वे कहते हैं कि इस मंत्र का जप करने वाले को सदा, हर स्थिति में, और सब के साथ, उचित व्यवहार का ही आश्रय लेना चाहिये। साथ ही साथ, एक निस्पृह, मोह-रहित, इच्छा-कामना से मुक्त जीवन-शैली को भी अपनाना चाहिये। जब इस मंत्र का स्पंदन उनके शरीर में संचरण कर अपना प्रभाव प्रदर्शित करने लगता है तो वे सहज ही सभी प्रकार के भय से मुक्त हो जाते हैं। उनको जीवन में शंकाएँ उद्वेलित नहीं करतीं। अनर्गल विचारों का कलुषित प्रभाव भी उन पर नहीं पड़ता।

|| Dohā ||

yathā yogya vyavahāra ko jāni rahai nispreha;
abhaya asaṅka asoca hvai jānai ajapā yeha. **216.**

Skilled in the right behavior at the right time,
those who live without desire for the world;
Becoming free from fear, doubt and impurity,
they know the mystery of the silent chant. **216**.

A person practicing the chant of this mantra should acquire the skill of behaving in the most appropriate manner, with everyone, at all times. Even while doing so, they should cultivate and practice the idea of remaining totally detached from attractions of the world. With the chant of this mantra making a difference in their lives they become fearless, they become free of all doubts, and they become relieved of useless thoughts that can debilitate a person.

नहीं वाक्य नहिं ग्रीह कछु नहीं भाव अभाव ।
सर्ब जीति रह सर्ब पर सो करतार कहाव ॥217॥

ऐसे व्यक्ति अधिक कुछ कहते नहीं, उनका घर नहीं होता, परिनिष्पन्न होते हुए उन्हें सुख-दःख, भाव-अभाव किसी भी वस्तु की चिंता नहीं होती। इन सब पर विजय पाकर वे ईश्वर की नाईं स्वतंत्र कहे जाते हैं ॥ **217** ॥

ऐसा व्यक्ति फिर अपने में ही रमण करता है। उसे किसी से न कुछ कहकर किसी सिद्धांत या विचार का प्रतिपादन करना होता है, न किसी का खण्डन-मंडन करना होता है। वे अगेही होते हैं, उनका अपना घर-द्वार नहीं होता कि वे किसी प्रकार की सांसारिकता में फँसें। खुले आकाश के नीचे का सारा धरा-धाम ही उनका आवास बन जाता है। उन्हें किसी भी प्रकार का भाव या अभाव नहीं सालता, न रचना की ईप्सा होती है न नाश का भय, न 'होना' ही होता है, न ही 'न होना'। इस प्रकार वह इस सृष्टि के सभी वर्गीकरणों से ऊपर उठकर, अपनी इंद्रियों की सीमाओं से भी उपराम होकर, इस सृष्टि के रचयिता की तरह ही मुक्त और उन्मुक्त जीवन जीते हैं।

nahĩ vākya nahĩ grīha kachu nahĩ bhāva abhāva;
sarba jīti raha sarba para so karatāra kahāva. **217.**

There's nothing to advocate, no place to call home,
There's no happiness or sorrow;
A person who conquers all and becomes transcendent,
is then thought of as a God. **217**.

Such a person then remains within himself. They do not feel the need to say anything to someone, to expound a doctrine or point of view. They wander freely for they have no place to call their home, because the entire world under the open skies becomes their home. They also do not hold any notion of being endowed or bereft, of the creation and its destruction, of being or non-being, of having something or lacking something. They conquer all (including their senses), controlling them holistically, becoming in effect, like God.

7 शून्य अंग[55]

* शिष्य वाक्य *

|| दोहा ||

निरालम्ब को अंग सुनि गत भइ संशय द्वंद ।
मैं तैं अब एकै भई सतगुरु परमानंद ॥218॥

निरालम्ब का अंग सुनकर सभी शंकाओं और दुविधाओं का विनाश हो गया। हे परमानंद में स्थित सतगुरु, अब आप और मैं, दोनों एक हो चुके हैं ॥ **218** ॥

अब इस 'शून्य अंग' में शिष्य की जिज्ञासाओं का अंतत: निदान हो गया। गुरु के मुख से उस सत्यपुरुष की निरालम्ब अवस्था के विषय में सुनने, और उस का अनुभव होने पर और जितने भी प्रश्न और संशय थे, सब तिरोहित हो गये। गुरु ने यह भी बता दिया कि इस निरालम्ब अवस्था को कैसे प्राप्त किया जाता है। शिष्य को इस अनुभव के बाद ऐसा लगने लगा है कि वस्तुत: वह और उसके गुरु दो नहीं, एक ही हैं, अब उनमें कोई अंतर नहीं है। शिष्य भी उस दैवीय अवस्था में पहुँच गया है जिसमें कि गुरु सदा विराजमान रहते हैं।

55 विवेकसार के 1965 वाले संस्करण में इस अंग का शीर्षक 'सुन्न को अंग' दिया हुआ है। बाद के संस्करणों में इसे 'शून्य अंग' कहा जाता है। दोनों शीर्षकों के अर्थ समान हैं।

7 *Śūnya aṅga*: On the Theme of the Void[65]

The Disciple Speaks

|| Dohā ||

nirālamba ko aṅga suni gata bhai saṁśaya dvanda;
maĩ taĩ aba ekai bhaī satguru paramānanda. **218.**

Hearing the limb of self-support,
all the doubts and conflicts are gone;
You and I are now as one,
O true guru in supreme joy. **218**.

Finally, the disciple has had all his questions and doubts resolved, once he has heard the Guru's discourse on the self-supported nature of the divine experience, and the way to cultivate it. He says that now he and his Guru, who is always in a state of divine bliss, are one.

65 The 1965 edition of the *Viveksār* has the title of this section as '*sunna ko aṅga*'. In the later editions, it is written as '*śūnya aṅga*'. The meaning of both the section titles is the same.

शंकाई संसार लखि और नहीं कछु और ।
रामकिना सतगुरु कृपा निरालम्ब की ठौर ॥219॥

इस शंकाओं से परिपूर्ण संसार में कहीं कुछ ऐसा नहीं है जो चाहा जा सके। कीनाराम कहते हैं कि सतगुरु की कृपा से प्राप्त होने वाली निरालम्ब अवस्था ही ग्रहणीय है ॥ **219** ॥

शिष्य के सामने अब प्रकट हो चुका है कि इस संसार में जहाँ भी देखा जाए, बस अनिश्चितताएँ, शंकाएँ, और द्वंद्व ही दीख पड़ते हैं। इन सभी से हृदय प्रकम्पित होता है, भय का जन्म होता है। असमंजस और नश्वरता के इस सतत परिवर्तनशील जगत में इससे यही लगता है कि वस्तुतः इस संसार में पाने योग्य कोई वस्तु होती ही नहीं है। इसीलिये, कीनाराम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि जीवन का सदुपयोग करना है, तो बस उसी निरालम्ब अवस्था की प्राप्ति का लक्ष्य ही उसका परम सौभाग्य होगा।

śaṅkāī saṁsāra lakhi aura nahĩ kachu aura;
Rāmakinā satguru kṛpā nirālamba kī ṭhaura. **219***.*

Seeing the world as full of doubts,
what is there to desire in it;
Kinaram says, with the grace of his guru,
he found rest in the state of self-support. **219**.

The disciple realizes that wherever one looks there is uncertainty and doubt and suspicion. All these generate fear. There is nothing in the world that is truly worth aspiring for. Therefore, says Kinaram, the best course of action to make life worthwhile is to seek the cultivation of the self-supported state, as he found by the grace of his guru.

पूरन पूरनता लही चौदिश पुनि नहिं होत ।
गंगा एक बिचार लहि नाम रुप बहु सोत ॥220॥

उस पूर्ण ब्रह्म की पूर्णता प्राप्त कर लेने के बाद फिर किसी प्रकार का घट-बढ़ नहीं होता। उसी प्रकार जैसे कि बहुत से छोटे जल-स्रोत, नदी, सरिताएँ हैं, लेकिन सत्त्व उन सभी का वही, सुरसरि गंगा वाला है ॥ **220** ॥

एक बार यह निरालम्ब अवस्था प्राप्त हो गई तो उसके बाद भवसागर की असंख्य चेष्टाएँ व्यक्ति को प्रभावित नहीं करतीं। वह तो उस पूर्ण-ब्रह्म की ही तरह परिपूर्ण अवस्था को पा जाता है जहाँ कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका अभाव हो। चंद्रमा की नित्य घटती-बढ़ती कलाओं के विपरीत ऐसी अवस्था को प्राप्त व्यक्ति सदा पूर्ण रहता है, सब में उसी की प्रतिछवि झलकती है। उसी प्रकार जैसे कि सोते, सरिताएँ, नदियाँ बहुत सी हैं, लेकिन वस्तुत: उनका रुप गंगा जैसा ही है, क्योंकि उन सभी में उस पवित्र नदी की कल्पना की जाती है।

इस दोहे में बाबा कीनाराम ने एक रोचक शब्द का प्रयोग किया है – चौदिश। इस शब्द में चौदह दिनों, और चार दिशाओं, दोनों की ही प्रतिध्वनि मिलती है। आम हिंदी शब्दकोशों में यह शब्द नहीं मिलता। हाँ, इससे मिलते-जुलते शब्द मिलते हैं, जैसे डिक्शनरी ऑफ़ भक्ति में 'चौदस' और 'चौदसि' दिये हुए हैं, जिनका अर्थ पक्ष का चौदहवाँ दिन होता है। लेकिन 1875 में एक मिशनरी सज्जन, जिनका नाम जे.डी. बेट था, उनके द्वारा बनाई डिक्शनरी में चौदिश, चौदिया, और चौदिस, तीनों शब्दों का एक ही अर्थ दिया है – चहुँदिश, यानी चारों ओर। एक और शब्दकोश है, सर राल्फ़ लिली टर्नर की ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑफ़ द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज़, जिसकी संस्कृत से उद्भूत दो प्रविष्टियाँ, संख्या 4606 और 4609 हमारे लिये उपयोगी हैं। संख्या 4606 'चतुर्दश' है जिसका अर्थ 'चौदहवाँ' दिया हुआ है। इसी की वर्तनी में कुछ अंतर से इसे 'चातुर्दश' भी दिया गया है, जिसका अर्थ है 'चौदहवें दिन प्रकट होने वाला', हालाँकि पाणिनी के संदर्भ से इस अर्थ के शब्द की वर्तनी भी 'चतुर्दश' हो सकती है। संख्या 4609 की प्रविष्टि 'चतुर्दिशम्' है, जिसका अर्थ 'चारों दिशाओं में' दिया गया है। इस शब्द का उच्चारण हिंदी में 'चौदिस' बताया गया है।

इन सभी स्रोतों के शाब्दिक अर्थ और उच्चारण को देखने से हमारी समस्या हल नहीं होती। शाब्दिक अर्थ देखने से बाबा कीनाराम द्वारा प्रयुक्त 'चौदिश' संस्कृत के 'चतुर्दिशम्' के निकट होता है। लेकिन इसका अर्थ 'चारों दिशाओं में' होने से इस दोहे के पहले चरण से अर्थ में इसका मेल नहीं बैठता। यदि उस पूर्ण की पूर्णता मिल गई तो चारों दिशाएँ फिर नहीं होतीं कहने से अर्थ पूर्णतया अस्पष्ट रह जाता है। लेकिन यदि हम कहें कि उस पूर्ण की पूर्णता प्राप्त कर लेने के बाद वह स्थिति निरंतर बनी रहती है, उसमें चंद्रमा के पाक्षिक घटने-बढ़ने जैसी स्थिति उत्पन्न नहीं होती, तो अर्थ बहुत कुछ निखर कर सामने आ जाता है। इसलिये हमने इस शब्द को चंद्रमा की पाक्षिकता से ही सम्बद्ध मानना ठीक समझा है। ऐसा इसलिये क्योंकि निरालम्ब अवस्था को प्राप्त व्यक्ति पूर्ण-चंद्र की भाँति हमेशा पूर्ण रहता है, पाक्षिक चंद्रमा की तरह उसमें घट-बढ़ नहीं होता।

pūrana pūranatā lahī caudiśa puni nahĩ hota;
Gaṅgā eka bicāra lahi nāma rūpa bahu sota. **220***.*

The wholeness of the 'Whole' attained,
now there is no chance of becoming less;
Just as numerous streams and brooks
are verily the Ganges in their essence. **220**.

Once this self-supported state is achieved, a person is not swayed by the trials and tribulations of the world anymore. That person attains a state that is wholesome and complete where nothing lacks in its nature anymore. Unlike the phases of the moon which keep it waxing and waning, that person is always full. They see a reflection of their own Self in all creation, just as all the streams of the world are like the sacred river Ganges, even though they are known by many names and forms.

Baba Kinaram has used an interesting word here, *caudiś*, which resonates of fourteen days, or four directions. In the *Dictionary of Bhakti*, cognate words *caudas* and *caudasi* are defined as the fourteenth day of the lunar fortnight. In an old dictionary, published in 1875 by J.D. Bate, who was a missionary of the Baptist missionary society of London, we do find this word. Three words – *caudiś*, *caudiyā*, *caudis* – have the same meaning, *cãhudiś* – in all directions (1875, 218). There is yet another source, Sir Ralph Lilley Turner's *A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages*, where two of the entries coming from Sanskrit are of interest to us. Entry number 4606, '*caturdaśá*' means 'fourteen', and with a little variation in spelling, '*cāturdaśa*' it means 'appearing on the **14**th day', although this same meaning is implied, with reference to Panini, with the word '*cáturdaśa*'. Entry number 4609 is '*caturdiśam*', with its meaning given as 'on all sides'. The Hindi pronunciation of this word is given as '*caudis*'. Looking at all these sources does not necessarily help us determine the meaning of the word *caudiś* as used by Baba Kinaram, except by a process of elimination. The meaning 'on all sides' or 'in all directions' does not harmonize with the first part of this line of the verse, which means 'the wholeness of the Whole attained', because then what would it mean if it was followed by the phrase, 'on all sides or all the directions no longer happen'? However, if we adopt a meaning related to the bright and dark fortnights of the moon, it harmonizes nicely with the first part of the verse and the meaning becomes clearer. Given this ambiguity in the meaning of this word, we have chosen to translate it as a representation of the fickle waxing and waning of the moon, because, like the fullness of the full moon, the self-supported state is always full, it does not wax or wane.

जीव जीव पद पाइया साँचो पयौं प्रतीति ।
रामकिना गुरु आपनो करि कीन्हों निज प्रीति ॥221॥

उस जीव ने जीव शरीर धारण कर उसकी उपयोगिता को सिद्ध कर जीव के लिये प्राप्य उच्चतम अवस्था को पा लिया, उसको सत्य का अनुभव हो गया। कीनाराम कहते हैं कि उनके गुरु ने उनके प्रति स्नेह दर्शाते हुए उनको इस पद तक पहुँचा दिया ॥ **221** ॥

जब जीव को पूर्णता की अवस्था प्राप्त हो ही गई, तो अब पाने के लिये कुछ और तो बचता नहीं है। अब तो जो अनश्वर सत्य है, उस सत्यपुरुष की वह शाश्वत स्थिति, उसका न केवल प्रत्यक्ष दर्शन, अपितु प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इस ज्ञान को पाना अत्यंत दुष्कर है, किंतु बाबा कीनाराम कहते हैं कि उनके गुरु ने उनको अपना माना, और इस स्नेहवश उनको उत्कृष्ट ज्ञान की इस चरमावस्था तक पहुँचा दिया।

इस दोहे में "जीव जीव पद पाइया" उल्लिखित है, जो थोड़ा सोचने पर विवश करता है। यदि यह होता "जीव शीव पद पाइया" तब तो उक्ति बिल्कुल साफ़ होती, कि अपने सच्चे आत्मस्वरुप से अनभिज्ञ जीव ने अपने स्वरुप को पहचान लिया, और उस पहचान के साथ ही वह उस शिवत्व की अवस्था में पहुँच गया जो उसे सर्वथा बंधन-मुक्त कर देती है। किंतु जैसा कि डिक्शनरी ऑफ़ भक्ति में लिखा है (2009, 1148), यह मुक्ति की अवस्था का ही द्योतक है।

jīva jīva pada pāiyā sa̐co paryau pratīti;
Rāmakinā guru āpano kari kīnhõ nija prīti. **221**.

The sentient being realized its highest state,
the experience of its True Form;
Kinaram's guru showed this to him,
Treating him with love as his own. **221**.

This state is the ultimate achievement, the highest accomplishment for which an embodied soul is bequeathed the gift of life, because then the sentient being can actually experience the true nature of reality. Kinaram says that his own Guru showed him infinite affection because he treated him as one of his own and led him to this experience.

In this couplet the phrase used is "*jīva jīva pad pāiyā*" which gives us a little bit of pause, because *jīva* is the embodied soul that has not recognized its true self yet. Had the phrase been "*jīva Śīva pad pāiyā*" the meaning would have been crystal clear, with the implication that the *jīva* has recognized its true form and has transcended to the Shiva state with this knowledge. However, as is mentioned in the *Dictionary of Bhakti* (Callewaert 2009, 1148), it probably reflects the embodied soul's state of salvation.

जहाँ ज्ञान को गम नहीं कर्म वहाँ नहिं जाहिं ।
सो तौ प्रगट लखा दिया रामकिना घट माहिं ॥ 222 ॥[56]

वह स्थान, जो सांसारिक ज्ञान से परे है, और जहाँ तक कर्मों की गति भी नहीं पहुँचती है, उसको उन सतगुरु ने कीनाराम की काया में ही प्रत्यक्ष दिखा दिया ॥ **222** ॥

यह परम अवस्था सभी प्रकार की बुद्धि-जनित कलाओं, विद्याओं, जानकारियों से परे है। सोच से परे की यह अवस्था मस्तिष्क की द्वैतभाव प्रेरित विचार-शृंखला से भी नितांत अलग है। यहाँ ज्ञान का भी आभास नहीं है, यहाँ कर्मों की गति नहीं है, यहाँ किसी प्रकार का वर्गीकृत संकल्प-विकल्प बिल्कुल है ही नहीं। यह सारा अनुभव गुरु ने अपनी कृपा से किनाराम को स्वयं उनके ही शरीर में प्रत्यक्ष दिखा दिया, और उन्होंने इसको सीधे अपने शरीर में ही घटते हुए अनुभव कर लिया।

56 तु. दास 2000, 10 सं. 9, “घट मांहैं औघट लह्या, औघट मांहैं घाट। कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट।“

jahā̃ jñāna ko gama nahī̃ karma vahā̃ nahī̃ jāhī̃;
so tau pragaṭa lakhā diyā Rāmakinā ghaṭa māhī̃.[66] **222**.

Where the notion of 'knowing' has no meaning,
karmic effects have no sway;
Kinaram's guru easily made him experience this,
right in his own body. **222**.

This exalted state is beyond the duality of all intellectual knowledge, all discursive knowledge, for it is even beyond the thought processes of the mind. This exalted state is also beyond all karmic effects of actions. The Guru was so kind he showed all this practically to Kinaram within the pot of his own body.

66 Comparable to Das 2000, 10 no. 9, "*ghaṭa mā̃haī aughaṭa lahyā, aughaṭa mā̃haī ghāṭa; kahi Kabīr paracā bhayā, guru dikhāi bāṭa*" (I found the difficult goal [supreme truth] within the body, and in that truth my Self; Kabir says now I know it, my guru revealed it to me).

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

अनुभव होते हि शिष्य तब बोले बचन विचारि ।
सोऽहं सतगुरु की कृपा संशय शोक निवारि ॥223॥

जैसे ही शिष्य को यह अनुभव हुआ, गुरु ने कुछ सोचकर कहा, सोऽहं मंत्र वह सतगुरु है जिसकी कृपा से सभी शंकाएँ और शोक तिरोहित हो जाते हैं ॥ **223** ॥

जब शिष्य ने अपने इस अनुभव के विषय में गुरु से कहा, तो गुरु ने उसके कथन का समर्थन किया और पुनः, कुछ सोचकर कहा, यह 'सोऽहं' मंत्र ही है जो सच्चा गुरु है, एक ऐसा समर्थ गुरु जो सब प्रकार के संशय और उनसे जनित दुःखों को अनायास ही दूर कर देता है। उससे जो सर्वव्यापकता का अनुभव होता है उससे साधक को अपने विराट स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। गुरु इस अनुभव का विस्तार से वर्णन करते हैं जब साधक को प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि वह इस सृष्टि के सभी अणु-परमाणुओं में उपस्थित है।

The Guru Speaks

|| Dohā ||

anubhava hote hi śiṣya taba bole bacana vicāri;
so'haṁ satguru kī kṛpā saṁśaya śoka nivāri. **223.**

As soon as the disciple had this experience,
the guru ruminated and said;
So'haṁ mantra is really the true guru
which removes all doubts and grief. **223**.

Having heard the disciple speak of his experience, the Guru agrees with him and says after a moment's thought: the mantra *so'haṁ* is verily a Guru, a self-realized Guru whose grace is sufficient to blow away all doubts in life and the sorrow that they produce. This profound experience makes the seeker realize his cosmic nature. The Guru illustrates what that experience is like as the seeker realizes his presence in all particles of nature. The following verses describe this experience.

|| छप्पय ||

अहं ब्रह्ममय जीव महीं कृत जगत अकारन ।
महीं निरंजन नाम महीं सब काम निवारन ॥
महीं काल बिकराल महीं सब कर्म बिचारों ।
महीं रिष्ट अरु पुष्ट महीं जनमौं महिं मारों ॥
रामकिना मय धराधर धरै अधार अकास ।
ब्रह्मा विष्णु महेश मय महीं त्रास अनुत्रास ॥224॥

मैं ब्रह्म पद प्राप्त वह जीव हूँ जो अनुभव करता है कि मैंने ही स्वेच्छा से जगत की रचना की। मेरा ही नाम निरंजन है और मैं ही सभी कार्यों का निवारण करता हूँ (या मैं ही सभी प्रकार की कामनाओं, वासनाओं, इच्छाओं का अंत कर देता हूँ)॥ मैं ही विकराल काल हूँ, सभी कर्मों पर मैं ही विचार करता हूँ। मैं हृष्ट-पुष्ट हूँ, मैं ही जन्म और मृत्यु का कारण हूँ ॥ मैं धरती और आकाश को धारण करने वाला अधर हूँ, मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हूँ, मैं ही भय हूँ और भय से मुक्त भी ॥ **224** ॥

इस छप्पय से पहले वाले दोहे में बाबा कीनाराम ने केवल इतना ही कहा कि सोऽहं मंत्र की कृपा से सभी शंकाएँ और शोक समाप्त हो जाते हैं, लेकिन उन्होंने इन छप्पयों के द्वारा होनेवाली रोमांचकारी अनुभूति के लिये पाठक को पूरी तरह से जान-बूझकर तैयार नहीं किया। पर ब्रह्म-साक्षात्कार होने से उस 'विराट स्वरूप' को दिखलाने के लिये ये छप्पय सोने में सुहागे का काम करते हैं। क्योंकि जब अचानक ये छप्पय सामने आते हैं तो पाठक के सामने उस अनुभूति को स्वयं जीने का ही आभास होता है। वे कहते हैं –

ऐसा अनुभव होता है कि मैं केवल एक शरीरबद्ध जीव नहीं हूँ, मैं एक चैतन्य आत्मा हूँ जो उस ब्रह्म के समान है जिसने अनायास ही इस सृष्टि की रचना की है। मैं ही निरंजन हूँ, वह परम सत्ता जो अगोचर रहते हुए भी सभी कर्मों का कारण है। मैं ही संसार में जो कुछ भी घटता है उसका कारण भी हूँ और परिणाम भी, सभी बाधाओं का निराकरण कर कार्यों का निवारण भी मैं ही करता हूँ। किंतु इस पंक्ति का अर्थ यह भी सम्भव है कि मैं ही वह सत्ता हूँ जो सभी प्रकार की काम-वासनाओं, अभिलाषाओं इत्यादि का अंत कर देता हूँ। मैं ही वह विकराल काल हूँ जो कर्मों का लेखा-जोखा करके उनकी परिणति, मृत्यु, की ओर ले जाता है। यह मैं हूँ जो स्वस्थ है, हृष्ट-पुष्ट है, सबल है, और मैं ही हूँ जो जन्म लेता है और मृत्यु का भी कारण बनता है। मैं ही पृथ्वी हूँ, मैं ही आकाश भी हूँ जो हरेक वस्तु को धारण किये रहता है। मैं ही त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश हूँ, मैं ही हूँ जो भय का जन्मदाता हूँ, और मैं ही हूँ जो भयभीत नहीं है।[57]

इन छप्पयों में बाबा कीनाराम ने जो गुरुता युक्त सर्वनाम 'महीं' का प्रयोग किया है, वह हिंदी साहित्य में इस रूप में अपेक्षाकृत कम देखने को मिलता है। शब्दकोशों में डिक्शनरी ऑफ़ भक्ति के अतिरिक्त इसका कहीं और मिलना कठिन है। रामचरितमानस में भी लेखक को इस शब्द की केवल एक आवृत्ति मिली, अयोध्या-काण्ड के राम-भरत संवाद में, जहाँ भरत अपने को दोषी मानते हुए कहते हैं, "महीं सकल अनरथ कर मूला । सो सुनि समुझि सहेऊँ सब सूला ॥" (रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड 262.2)। एक सरसरी निगाह से देखने पर यह शब्द अन्य भक्ति संतों की शब्दावली में भी नहीं मिलता है। लेकिन अपने आप में यह सर्वनाम प्रभाव-उत्पादक है, और इन छप्पयों की मात्रा गणना में सटीक बैठने के अतिरिक्त "मैं ही" के स्पष्ट भाव को सशक्त रूप से प्रदर्शित करता है। जहाँ इस सर्वनाम की उपस्थिति से मात्रा-गणना अशुद्ध होने की सम्भावना हो, वहाँ बाबा कीनाराम 'मैं' सर्वनाम का प्रयोग करते हैं।

57 इस छप्पय के अंतिम दो शब्द 'त्रास-अनुत्रास' को लेखक ने विपरीतार्थक अर्थ में लिया है क्योंकि यह अर्थ संदर्भानुसार उचित लगता है। 'त्रास' का अर्थ स्पष्ट है, भय। किंतु इसके विपरीत अर्थ में यह केवल पालि-हिंदी शब्दकोश (2015.348697.Pali-hindi-Kosh.pdf; archive.org) में मिलता है। कुछ संस्कृत शब्दकोशों में 'अनुत्रास' शब्द मिलता तो है, लेकिन 'जो भयभीत न हो' के अर्थ में न होकर 'बेकार के झंझट' के अर्थ में। देखें – (Sanskrit - Dictionary (learnsanskrit.cc)। बहुप्रचलित न होने के अतिरिक्त इस शब्द में प्रयुक्त उपसर्ग 'अनु' का बाबा कीनाराम ने इन छप्पयों में आगे दो बार और उपयोग किया है – अनुधात और अनुग्रह में। इन शब्दों में यह उपसर्ग संस्कृत के 'अणु' यानी छोटे कण का भाव प्रदान करता है। आगे यथास्थान हम इन शब्दों पर विचार करेंगे।

Chappaya

ahaṁ brahmamaya jīva mahĩ kṛta jagata akārana;
mahĩ nirañjana nāma mahĩ saba kāma nivārana.
mahĩ kāla bikarāla mahĩ saba karma bicārõ;
mahĩ riṣṭa aru puṣṭa mahĩ janamaũ mahĩ mārõ.
Rāmakinā maya dharādhara dharai adhāra akāsa;
Brahmā Viṣṇu Maheśa maya mahĩ trāsa anutrāsa. **224**.

I am the sentient being one with the Supreme *Brahman*,
I made the creation spontaneously;
I am the one whose name is Niranjan,
it is I who brings all problems to resolution.
I am the dreadful wrath of 'Time',
I reflect on all the actions that are performed;
I am the one who is healthy and strong,
I am the one who is born and who causes death.
I am the one holding the earth in space,
I hold the sky that has no base;
I the trinity of Brahma, Vishnu and Shiva,
I am the fearful as also the one un-afraid. **224**.

In the couplet before this *chappaya* Baba Kinaram had only mentioned that the grace of the *So'haṁ* mantra as the true guru dispels all doubts and sorrow. He did not, perhaps knowingly, prepare the reader in any way for the thrill felt on reading this detailed experience of the 'dispelled doubts'. The description that follows is that of the 'cosmic form' of the godhead, as Krishna is said to have shown to Arjuna in the *Bhagvadgītā*. The *chappaya* meter in these verses works very well to help the reader look at all different aspects of the creation while, as it were, being in the pilot's seat. The reader, in fact, undergoes the experience with Baba Kinaram as he says: I am not just a sentient being, I am an embodied soul who is like the *Brahman*, the creator, who has created the world so spontaneously. My name is "Niranjan" (the imperceptible God), the cause and effect of all that exists in this world. I am the terrible time which causes death after reflecting on all the good and bad actions of a person. I am the one who is healthy and prosperous, I am the cause of birth as well as death. I am the earth as well as the sky. I am the Hindu Trinity of Brahma, Vishnu and Mahesh, as well as the cause of fear and the reprieve from it, being unafraid.[67]

In these *chappaya* verses Baba Kinaram has used the emphatic pronoun '*mahĩ*', which is relatively rare in Hindi literature. Even in the dictionaries, it is hard to find except in the *Dictionary of Bhakti*. The writer could find only one example of this pronoun, used in the way that Baba Kinaram has

67 The author has taken the last two words of this *chappaya*, *trāsa anutrāsa*, to mean the opposites, because that fits the pattern of the rest of the verse. The meaning of *trāsa* is commonly found to mean 'fear'. The meaning of *anutrāsa* as the opposite of fear, however, is found only in the *Pāli-Hindī Śabdakośa* (2015.348697.Pali-hindi-Kosh.pdf; archive.org). The word is found in some Sanskrit dictionaries, but only in the sense of a 'nuisance' (Sanskrit Dictionary. Learnsanskrit.cc). Although this word with the prefix '*anu*' does not seem very prevalent, Baba Kinaram has used it twice more in these *chappaya* – *anudhāta* and *anugraha*. In all these three words the prefix '*anu*' gives the sense of the Sanskrit word '*aṇu*', which is to say, a very small particle. We will discuss these words as we arrive at them in the text that follows.

used it here, in the vast corpus of the words in the *Rāmacaritamānas*. The word occurs in the dialogue between Rama and his brother Bharat in the *Ayodhyākāṇḍa*: "*mahĩ sakala anaratha kara mūlā; so suni samujhi saheũ saba sūlā*" (I am the root cause of all misfortune; having heard and understood it I suffer all the piercing pain) (*Rāmacaritamānas*, *Ayodhyākāṇḍa*, 262.2). A quick glance does not find this word in the poetry of the *Bhakti* saints either. But, besides working well with the *mātrā* count of the verses, it is a singularly efficacious pronoun to convey the sense of "I only" to take the reader on a cosmic tour. Where the word might interfere with the *mātrā* count of the verse, Baba Kinaram uses the pronoun *maĩ* for 'I'.

महीं सुमन मय बास महीं मधुकर ह्वै भूल्यौ ।
महीं जू तिल मय तेल महीं बंधन मैं खूल्यौ ॥
महीं कहर मय जहर अमी मय अमल सुधाकर ।
महीं ज्ञान अज्ञान ध्यान मय ज्योति प्रभाकर ॥
मैं लूलो मैं पाँगुरो मैं सुंदर अतिशय रुचिर ।
रामकिना मैं अंग अति सुगम जानि अतिशय सुचिर ॥225॥

मैं ही पुष्प, उसकी सुगंध, और उसपर मग्न होकर मँडराने वाला भौंरा हूँ। मैं ही तिल का बीज, और उस छोटे से बीज में निहित तेल हूँ, मैं ही बंधन में बँधा जीव और मैं ही मुक्त भी हूँ। मैं ही घोर नाशकारक हलाहल हूँ, और मैं ही प्राण रक्षा का अमृत-चंद्र भी हूँ।। मैं ही ज्ञान हूँ, अज्ञान भी हूँ, ध्यान भी, और उसमें सूर्य की तरह ज्योति भी। मैं ही लूला हूँ, अपंग हूँ, बहुत सुंदर और अत्याकर्षक भी मैं ही हूँ। मैं ही सहज बोधगम्य आयाम हूँ उस ज्ञान का, जो अनादिकाल से निरंतर चला आ रहा है ॥ **225** ॥

मैं ही पुष्प हूँ, उस पुष्प की सुगंध भी हूँ, और मैं ही वह भौंरा भी हूँ जो उस पुष्प की सुगंध में अपनी सुधि खो बैठता है। इस पंक्ति के पहले चरण के तीसरे शब्द, 'मय' को थोड़ा निकट से देखने की आवश्यकता है क्योंकि बाबा कीनाराम ने बहुत सूझबूझ के साथ इसे यहाँ पिरोया है।[58] 'महीं सुमन मय बास' के कई अर्थ धीरे-धीरे उजागर होते हैं। संदर्भ के अनुसार इसका एक तो सीधा सा अर्थ है कि मैं ही सुमन हूँ और मैं ही सुगंध हूँ, यदि हम 'मय' का अर्थ व्यक्तिवाचक सर्वनाम 'मैं' के रूप में लें (देखें McGregor 1993, 791)। किंतु 'मय' का एक अर्थ अव्यय 'सहित', 'संयुक्त' इत्यादि भी होता है। यानी इस चरण में, 'सुगंध से संयुक्त सुमन' भी दीख पड़ता है। इसी से मिलता-जुलता 'मय' का एक अर्थ तद्रूपता के प्रत्यय के रूप में भी मिलता है, जैसे 'अंधकारमय', 'प्रकाशमय' 'सियाराममय' इत्यादि। इस तद्रूपता के अर्थ को ग्रहण करने पर इस चरण का अर्थ बन जाता है 'पुष्प की भाँति सुगंधित'। किंतु इस अर्थ का और विस्तार भी हो सकता है। 'मय' का एक अर्थ 'मद्य' या 'मादक' भी होता है। यदि इस अर्थ में हम 'मय' को इस चरण में लें तो दूसरे चरण के साथ इसकी युक्ति अच्छी बैठती है, यानी मैं ही मादक सुगंध से संयुक्त पुष्प हूँ जिसकी मादकता में मैं स्वयं भौंरे में भी उपस्थित अपनी सुधि को भूल जाता हूँ (इन अर्थों के संदर्भ के लिये देखें, दास 1965-75, 3794)।

मैं ही जैसे तिल का छोटा सा बीज हूँ, उसके भीतर का तेल भी हूँ। मैं ही इस संसार के सभी प्रकार के बंधन हूँ, और मैं ही हूँ जो स्वतंत्र भी है और किसी भी बंधन में नहीं। यह मैं ही हूँ जो सभी प्रकार की घोर विपत्ति और संकट हूँ, ऐसा विष हूँ जो समस्त विनाश कर दे, साथ ही मैं ही हूँ जो प्राण-संजीवन अमृत है और जो निष्कलंक चंद्रमा के समान सुधा का भण्डार भी है। मैं ही स्वयं ज्ञान हूँ, और मैं ही अथाह अज्ञान भी हूँ। मैं उस ज्ञान तक पहुँचाने वाला ध्यान हूँ, और मैं ही उस प्रकाशमय सूर्य की नाईं ज्ञान-ज्योति का देनेवाला हूँ। मैं ही लूलेपन या लंगड़ेपन की तरह की अपंग अवस्था हूँ, और मैं ही हूँ जो अथाह सौंदर्य का भण्डार भी है और अत्यंत रोचक भी। कीनाराम, जो यहाँ अपने को 'रामकिना' नाम से सम्बोधित कर रहे हैं, कहते हैं कि मैं ही अनंतकाल से चले आ रहे उस प्रकाशमय प्राचीन ज्ञान का वह आयाम हूँ जो आसानी से जाना जा सकता है।

58 बौद्ध विनयपिटक के महावग्ग में 'मय' शब्द का प्रयोग 'हम' के रूप में दृष्टिगोचर है (महावग्ग 1. महाखंधक 4. राजायतनकथा)। किंतु इस शब्द को रोमन में लिखते समय प्रो. ओल्डनबर्ग ने इसे 'मयं' रूप दिया है (Oldenberg 1879, 4).

mahĩ sumana maya bāsa mahĩ madhukara hvai bhūlyau;
mahĩ jū tila maya tela mahĩ bandhana maĩ khūlyau.
mahĩ kahara maya jahara amī maya amala sudhākara;
mahĩ gyāna agyāna dhyāna maya jyoti prabhākara.
maĩ lūlo maĩ pã̲guro maĩ sundara atiśaya rucira;
Rāmakinā maĩ aṅga ati sugama jāni atiśaya sucira. **225.**

I am the flower, I the fragrance,
I am the enchanted black bee;
I am the oil in the sesame seed,
I am the bondage, I am free.
I am calamity, I am the poison,
I the pure nectar, the moon of ambrosia;
I am the wisdom and the ignorance,
I the radiant light seen in meditation.
I am the cripple, I the lame,
I am beautiful and extremely attractive;
Kinaram says I am the radiant limb of knowledge
which hails from an immemorial time. **225**.

I am the flower, its fragrance and the bumblebee that comes to it attracted by its fragrance and loses itself in intoxication. The first part of the first line of this verse, '*mahĩ sumana maya bāsa*' merits a closer look because Baba Kinaram has set the word '*maya*' in this phrase with gemstone precision.[68] The more we dwell on this phrase with a knowledge of Hindi variants of the meaning of the word '*maya*', and stick to the context of the flower and the fragrance, the more shades of meaning gradually emerge. As a first-person pronoun, I, '*maya*' has the straightforward meaning of 'I am the flower, I am the fragrance' (see McGregor 1993, 791). But another, indeclinable, meaning of the word '*maya*' is also 'with', 'combined with' etc. Which is to say, in this phrase, 'a flower combined with the fragrance'. A similar meaning, more extended, is that of 'of the same form' as is evident in the words '*andhakāramaya*' (in the same form as darkness), '*prakāśamaya*' (in the same form as light), '*siyārāmamaya*' (of the same form as Sita and Rama) etc. If we take this meaning, 'of the same form', then the meaning of the phrase becomes 'I am the fragrance, as that of a flower'. If we extend this meaning with the help of another interpretation of the word '*maya*', an intoxicant or wine, then the meaning would harmonize very nicely with the second part of this first line, and would be, 'I am that flower infused with the intoxicating fragrance, whose smell makes me lose my senses in my form as the black bee' (see Das 1965-75, 3794).

I am the tiny sesame seed as well as the oil in it. I am bondage, and I am the one that represents freedom. I am terrible disaster personified; I am the poison that annihilates all. I am the nectar that gives life as well as the source for it like the clear moon. I am knowledge as well as ignorance, I am the meditation which leads to such knowledge, like the rays of the Sun that illuminate all. I am the lame and the cripple, as well as beautiful and very interesting. Kinaram says I am ancient knowledge which is radiant in its beauty and is very easy to realize.

68 The word '*maya*' can be found in the *Mahāvagga* of the Buddhist *Vinayapiṭaka*, but it is used there as 'we' not 'I' (*Mahāvagga* 1. *Mahākhandaka* 4. *Rājāyatanakathā*). However, in his Roman transliteration of this word, Oldenberg has rendered it as '*mayaṃ*' (Oldenberg 1879, 4).

महीं नीच अरु ऊँच अंध मैं नैन सलोना ।
महीं धात अनुधात गात मैं पानी पौना ॥[59]
महीं मेरु कैलास बास सुर सकल जहाँ ते ।
रुद्र लोक बैकुंठ सत्य मैं सबै तहाँ ते ॥
सप्त सिंधु गोलोक मैं रवि मंडल सोम लोक ।
रामकिना रमि राम मैं जहँ तहँ शोक अशोक ॥226॥

मैं ही ऊँच-नीच का भेद हूँ, अंधा भी हूँ और मनमोहक आँखें भी। मैं ही शरीर में व्याप्त धातु और उसके सभी अवयव, जल और वायु भी हूँ। मैं ही मेरु और कैलाश पर्वत हूँ जहाँ सभी देवता वास करते हैं। मैं ही शिव का रुद्र लोक, विष्णु का वैकुण्ठ, तथा सत्य-लोक, सभी हूँ। सात समुद्र, कृष्ण का गोलोक, सौरमण्डल एवं चंद्रलोक भी मैं ही हूँ। रामकिना कहते हैं कि वे राम में रमते हुए हर स्थान पर अनवसादन एवं अवसाद, दोनों के रूप में विद्यमान हैं ॥ **226** ॥

मैं ही निकृष्ट कोटि का जीव हूँ, मैं ही उत्कृष्ट कोटि का जीव भी हूँ। मैं अंधापन भी हूँ, और मैं ही सुंदर-सलोने नयन भी हूँ। मैं शरीर में उपस्थित सभी प्रकार के धातु और खनिज पदार्थ हूँ, मैं ही शरीर को क्रियान्वित रखने वाला जल और पवन भी हूँ। यहाँ 'धातु' शब्द को और विस्तार से समझा जा सकता है, जिसका कि गूढ़ अर्थ भी हो सकता है। आयुर्वेद में सात प्रकार के सप्तधातुओं की परिकल्पना है जैसे रस, रक्त, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा और प्रजनन के लिये शुक्र। संत साहित्य में बहुधा 'धातु' शब्द का प्रयोग शुक्र और उसके संग्रह के निमित्त किया जाता है। इसलिये लेखक ने 'अनुधात' शब्द की विवेचना 'अन्य धातुओं' या खनिज पदार्थों के रूप में की है। यदि हम एक विहंगम दृष्टि से नाथ साहित्य को भी देखें तो गोरष-गणेस गुष्टी (बड़थ्वाल 1960, 222) की एक पंक्ति में पवन को सतोगुण का प्रतीक माना गया है, और जल को रजोगुण का। इस दृष्टि से इस पंक्ति का वाक्यांश शरीर में त्रिगुणों की उपस्थिति के रूप में भी समझा जा सकता है।

मैं ही मेरु पर्वत हूँ, कैलास पर्वत भी मैं ही हूँ जहाँ पर सभी देवतागण एवं दिव्य-शरीरधारी वास करते हैं। मैं ही शिव का रुद्र-लोक हूँ, विष्णु का वैकुण्ठ-धाम भी और सत्य लोक भी मैं ही हूँ (जहाँ से इन दिव्य शरीरधारियों का उद्गम है)। मैं ही सप्त-सिंधुओं का जल-विस्तार हूँ, कृष्ण की लीला भूमि गोलोक भी हूँ, तथा अपार विस्तार वाले सूर्य और चंद्र के लोक भी मैं ही हूँ। कीनाराम कहते हैं कि वे जहाँ-जहाँ भी हैं, उस हर एक स्थान पर शोक में भी और शोक-रहित अवस्था में भी वे राम नाम में ही रमण कर रहे हैं।

59 देखें बड़थ्वाल 1960, 222, "सतगुन बोलिये पवन रजगुन बोलिये पानी।"

mahĩ nīca aru ũca andha maĩ naina salonā;
mahĩ dhāta anudhāta gāta maĩ pānī paunā.
mahĩ meru kailāsa bāsa sura sakala jahã̃ te;
rudra loka baikuṇṭha satya maĩ sabai tahã̃ te.
sapta sindhu goloka maĩ ravi maṇḍala soma loka;
Rāmakinā rami Rāma maĩ jahã tahã̃ śoka aśoka. **226.**

I am the low and the high,
I am the blind and the beautiful eyes;
I the constituent elements of the body,
I am the water and the air inside.
I am the mountains Meru and Kailash
where all the divinities reside;
I am the heavens of Shiva and Vishnu,
Also the heaven of the Truth from where they all arrive.[69]
I am the seven seas, the paradise of Krishna's play,
I the solar system and the world of the moon;
Kinaram is absorbed in Rama everywhere,
whether in sorrow or in delight. **226.**

I am the highest category of being as well as of the lowest category. I am the blind and the one with beautiful eyes. I constitute all the different kinds of minerals and elements in the body, as well as the water and the air that are an integral part of it. This is the common and general meaning of this line. Here, the word *dhātu*, literally 'metal', has a more esoteric meaning. According to Ayurveda there are seven types of *dhātus* (*saptadhātu*) that compose the body, viz plasma (*rasa*), blood (*rakta*), muscle (*māṁsa*), fat (*medā*), bone (*asthi*), bone marrow (*majjā*), and reproductive fluid (*śukra*). In the literature of the *santmat* the word *dhātu* is often used to mean the semen and its retention. It is for this reason that the author has chosen to interpret the word '*anudhāta*' as 'different kinds of minerals'. If we broaden our gaze to look at similar literature in the Nath tradition, a line from *Gorakh-Ganes Guṣṭī* (Barthval 1960, 222) mentions that the air element represents the *Satoguṇa* trait, and the water element represents the *Rajoguṇa* trait. So, the last half of this line can be interpreted to mean 'I am all the three primordial traits present within the body'.

I am the holy mountains where all the gods reside, I am the special heavens of Shiva as well as that of Vishnu and Krishna. I am the worlds of the sun as well as the moon. Thus, Kinaram remains absorbed in the name of God, sees its presence in every aspect of the creation, even in sorrow and in happiness.

69 Taking the word '*satya*' here to mean the Satya-loka in this verse, the author has translated it as the highest of the heavenly realms.

महीं औध विकटाद्रि नारि मैं पुरुष उजागर ।
महीं सोच अनसोच मूढ़ मैं अति नट नागर ॥
मैं दानव मैं देव दीन मैं परम सुखारी ।
महीं सिंह अरु स्यार महीं डर नीडर भारी ॥
मैं आवौं मैं जात हौं मैं रहौं चोर समाय ।
रामकिना मैं आतमा आतम सतगुरु पाय ॥ 227॥

मैं ही अथाह सागर, दुर्गम पर्वत, तथा संसार में उदित नारी और पुरुष हूँ। मैं ही विचारों का स्रोत, और विचार-रहित हूँ, मैं ही कृष्ण की भाँति नृत्य निपुण हूँ। मैं असुर हूँ, सुर भी हूँ, दीन-हीन हूँ और सुख-सम्पन्नता से आच्छादित भी। मैं सिंह हूँ और शृगाल (गीदड़) भी, मैं ही डरपोक और परम निर्भीक भी हूँ। मैं ही हूँ जो आने-जानेवाला गतिमान् है, और मैं ही किसी चोर की तरह स्थिर कहीं छिपा रहता हूँ। रामकिना कहते हैं कि मैं शुद्ध आत्मा हूँ जिसने अपनी आत्मा में सतगुरु का दर्शन कर लिया है ॥ **227** ॥

मैं ही अगाध सागर हूँ, मैं ही अगम्य पर्वत हूँ, इस सृष्टि रचना में मैं ही नारी भी हूँ और मैं ही पुरुष रूप में दीख पड़ता हूँ। मैं ही विचारों का उद्गम हूँ, मैं ही विचारहीन भी हूँ, और वह मैं ही हूँ जो नृत्य में पारंगत है और अभिनय युक्त व्यवहार को जानता है। मैं ही दानव रूप में हूँ, मैं ही देव रूप में हूँ, मैं ही दीन-हीन असहाय भी हूँ, और मैं ही सुख और संतोष की प्रतिमूर्ति हूँ। मैं ही सिंह हूँ, सियार भी मैं ही हूँ, मैं ही मूर्तिमान भय हूँ, और वह मैं ही हूँ जो सर्वदा निडर भी है। अंदर आनेवाला भी मैं हूँ, बाहर जानेवाला भी मैं ही हूँ। मैं ही वह हूँ जो बिना हिले-डुले या शब्द किये किसी चोर की भाँति छिप कर भी रहता है। कीनाराम कहते हैं कि वे ही विशुद्ध आत्मा हैं जिन्होंने अपनी ही स्वात्मा के रूप में सतगुरु को पा लिया है। यहाँ अनुप्रास अलंकार के रूप में बाबा कीनाराम द्वारा प्रयुक्त 'आतमा' और 'आतम' रोचक हैं। 'आतमा' तो संस्कृत के 'आत्मन्' शब्द से सम्बंधित है जो शरीर में उस परम-आत्मा के रूप में समझा जाता है। उससे कुछ भिन्न, 'आतम' शब्द हिंदी के 'अपने' शब्द से मिलता है। यानी कीनाराम ने अपनी आत्मा में अपने सच्चे गुरु को पा लिया है।

mahĩ audha vikaṭādri nāri maĩ puruṣa ujāgara;
mahĩ soca anasoca mūṛha maĩ ati naṭa nāgara.
maĩ dānava maĩ deva dīna maĩ parama sukhārī;
mahĩ siṁha aru syāra mahĩ ḍara nīḍara bhārī.
maĩ āvaũ maĩ jāta haũ maĩ rahaũ cora samaya;
Rāmakinā maĩ ātamā ātama satguru pāya. **227.**

I am the ocean and the formidable mountain,[70]
I am the manifest male and female;
I am the thought and the thoughtlessness,
the fool as well as the courtly dancer.
I am the demon, I am divine,
I am the wretched and the one in bliss;
I am the lion as well as the jackal,
I am the fear and the fearlessness.
I come and go as I please,
I stay unmoving hidden like a thief;
Kinaram says I am the embodied spirit
who found his true guru in his highest Self. **227.**

I am the ocean, the high mountain, the female and the male element in the cosmos. I am the thought that arises in the mind, I am also the lack of it. I am foolish, and I am also an accomplished dancer and a remarkable trickster. I am demonic, I am divine, I am the one in abject misery, and I am the one who basks in contented happiness. I am the majestic lion as well as the furtive jackal, I am fear personified, and I am the one who has no fear at all. I move inside and out as I please, but I am also still like a thief in hiding. Kinaram says I am veritably the Soul, and I have discovered my true Guru within me in my highest Self. Baba Kinaram has used two words in sequence, '*ātmā*' and '*ātama*' for good rhetorical effect and poetic embellishment. The word '*ātmā*' refers to the Sanskrit '*ātman*', understood to be the soul within the body, being a representation of the cosmic soul, the *paramātman*. The word '*ātama*', on the other hand, refers to the Self, or one's own, as understood in Hindi. In effect, Baba Kinaram is pointing out here that it is in his own Self, the representative of the cosmic Self in the body, that he has found the true guru.

70 The word *audh* is generally interpreted in Hindi dictionaries as Avadh, the kingdom of Dasharath, or *avadhi*, an interlude, a unit of time. The Arvind Lexicon, however, comes closer to our context. It is defined as जलधारा 'stream'. S.v. औध, Arvind Lexicon Professional Edition (Online Dictionary & Thesaurus: www.arvindlexicon.com). The author has, however, chosen to interpret this word as 'the ocean' for two reasons. In *Dictionary of Bhakti*, *odadhi* is listed as a variant of the Sanskrit word *udadhi*, which implies an ocean. *Odadhi* is much closer to *audh* as in our text here. In a different verse which occurs in *Rām Gītā*, Kinaram uses the word *odra* for the Sanskrit word *udara* 'stomach'. This exchange of 'o' or 'au' for the Sanskrit 'u', then, seems not unusual in Baba Kinaram's writings. Also, given the context of this *caupāī*, it makes sense to visualize a formidable mountain rising out of the deep ocean where the primeval male and female forms materialize, perhaps as Shiva and Shakti.

मैं देवल मैं देव महीं पूजा मैं पूजौं ।
महीं चोर मैं साहु ध्वजा मैं होये धूजौं ॥
महीं रंक मैं राय सखा मैं साहेब साँच्यौं ।
मैं गोपी मैं ग्वाल कृश्न बृन्दाबन नाँच्यौं ॥
मैं सारायन राम हौं दस सिर रावण छेदिया ।
रामकिना हनुमान मैं राम काज लगि सब किया ॥228॥

मैं ही मंदिर, देवता, पूजा और पुजारी, सभी हूँ। मैं चोर भी हूँ, साधु भी हूँ, ध्वजा भी हूँ और उसका लहराना भी। मैं ही निर्धन हूँ, राजा हूँ, मैं ही सखा-भाव का भक्त हूँ और मैं ही उस भाव का भगवान भी। मैं गोपी हूँ, ग्वाल भी, और कृष्ण भी जिन्होंने वृन्दावन में नृत्य किया। मैं शरचाप धारी राम हूँ और वह रावण भी जिसके दस शिरों का भेदन हुआ। रामकिना कहते हैं मैं हनुमान भी हूँ जिन्होंने श्रीराम जी के हर कार्य को सम्पन्न किया ॥ **228** ॥

मेरी अस्मिता ऐसी है कि मैं ही मंदिर हूँ, मैं ही मंदिर का देवता भी हूँ, मैं ही पूजा करनेवाला भी हूँ, और मैं स्वयं वह पूजा हूँ जो अर्पित की जा रही है। मैं ही चोर हूँ, मैं ही साधु भी हूँ, मैं ही हवा में लहराती पताका हूँ, और मैं ही उस पताका की लहर भी हूँ। इस पंक्ति में दो शब्दों के विषय में कुछ विस्तार उपयुक्त रहेगा। यहाँ पहले चरण में चोर के विपरीतार्थ में साहु (साहूकार) भी उचित है। किंतु 'साहु' का एक अर्थ 'साधु' भी विदित है (Callewaert 2009, 2049). इसलिये बाबा कीनाराम का आशय 'सच्चरित्र-दुश्चरित्र' मानते हुए लेखक ने चोर के साथ साधु शब्द को अधिक अर्थपूर्ण स्वीकार किया है। इसी पंक्ति के अंतिम चरण में ध्वजा भी है, और उसके लहराते रहने की क्रिया को 'धूजौं' कहा गया है। यह शब्द 'धुजाना' क्रिया से उद्भूत है जिसका अर्थ कम्पित करना, उड़ाना, फैलाना आदि मान्य है (दास 1965-75, 2467)। हिंदी भाषा में 'धूजौं' के रूप में इस शब्द का प्रयोग बहुत कम देखने को मिलता है, किंतु राजस्थानी भाषा के वीर-रस के साहित्य में इसके उदाहरण इस रूप में मिल जाते हैं।[60] मैं ही हूँ जो निर्धनता में कलपता हुआ रंक है, और मैं ही किसी राजा की तरह धनाढ्य भी हूँ। मैं वह भक्त भी हूँ जो अपने इष्ट की एक झलक पाने के लिये लालायित है, और मैं ही वह इष्ट हूँ जो भक्त की इस ललक के ध्येय हैं। मैं वृन्दावन में बसने वाली गोपी और ग्वाला हूँ, और मैं ही वह कृष्ण भी हूँ जिनके साथ सभी गोपी और ग्वाल नृत्य किया करते थे। मैं धनुष-बाण हाथ में लेकर भ्रमण करने वाला राम हूँ जिसे निर्गुण भक्त ब्रह्म मानते हैं, और दस सिरों वाला रावण भी हूँ जिसके सभी सिरों का उच्छेदन हुआ। इस पंक्ति में श्रीराम के विशेषण के रूप में प्रयुक्त शब्द 'सारायन' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। इस शब्द से धनुष-बाण या शरचाप, या रामायण जैसा कुछ अस्पष्ट आभास तो होता है, लेकिन शब्दकोशों में यह नहीं मिलता। इसलिये इस शब्द का संधि विच्छेद कर यदि हम सार+अयन के अलग-अलग अर्थ देखें, तो सार का अर्थ 'तत्त्व' या 'सत्त' मान सकते हैं। अयन शब्द के कई अर्थों में एक अर्थ 'घर' भी कहा गया है (दास 1965-75, 301)। अब यदि 'सार-तत्त्व के आवास श्रीराम' यह अर्थ लगाएँ तो इस विशेषण में श्रीराम के निर्गुण रूप के संदर्भ में कुछ स्पष्टता आ जाती है। इसी को यदि दस शिर वाले रावण के शिरोच्छेदन के संदर्भ में देखें, तो यह विवरण एक ही समय में सगुण भी बन जाता है। अंतिम पंक्ति में कीनाराम कहते हैं कि मैं ही वह भक्त हनुमान भी हूँ जिन्होंने राम का कार्य करने के लिये आकाश-पाताल एक कर दिया।

60 देखें कुन्हन राजा 1944, 57 – "धकै औरंग रै अवर छत्र धूजिया । धकै कारण साह रै साह धूजै"।

maĩ devala maĩ deva mahĩ pūjā maĩ pūjaũ;
mahĩ cora maĩ sāhu dhvajā maĩ hoye dhūjaũ.
mahĩ raṅka maĩ rāya sakhā maĩ sāheba sãncyaũ;
maĩ gopī maĩ gvāla kṛṣna bṛndābana nãcyaũ.
maĩ sārāyana Rāma haũ dasa sira Rāvaṇa chediyā;
Rāmakinā Hanumāna maĩ Rāma kāja lagi saba kiyā. **228**.

I am the temple, the deity within,
I the worship and the worshiper;
I am the thief, I the monk,
I am the flag and its flutter.
I am the poor, I the rich,
the devotee as also the true lord;
I am the milkmaid, the cowherd, and Krishna,
who all danced in Vrindavan.
I am the bow wielding Ram
And Ravan whose ten heads were cut off;
Kinaram says I am Hanuman
who left no stone unturned in service to Ram. **228**.

I am the divine unity in being the temple, the god, the worship, and the worshiper all at once. I am the thief, the monk, I am the flag, and I am its flutter in the wind too. It is useful to expand upon two words that occur in this line. In the first part of this line the associated word with the 'thief' is '*sāhu*', which can mean either a merchant, or a monk (see Callewaert 2009, 2049). Interpreting Baba Kinaram's intention to put a pair of opposites here in terms of bad-character-good character, the author has chosen for the word to mean a 'monk' here. In the last part of this line there is the mention of a flag, as well as its action of fluttering, for which the verb '*dhūjaũ*' has been used. This word emanates from the verb '*dhujanā*' whose various meanings are listed as to make tremble, to fly, to spread out etc. (see Das 1965-75, 2467). It is rare to see this word used as '*dhūjaũ*' in the Hindi language, but in the warrior-poems of the Rajasthani language, examples of this usage can be found.[71]

I am the one who is miserably impoverished, I am wallowing in richness as a king, I am the devotee pining for a glimpse of my dear divinity, I am the dear divinity who stays as a divine companion. I am the cow-maiden and the cowherd, as well as Lord Krishna who used to dance together in the groves of the holy town of Vrindavan. I am also the bow-wielding Rama who is known as the essence of all that exists, I am the ten-headed demon king Ravana, all of whose heads where cut off. The adjective used for Rama in this line, '*sārāyana*', is unclear. It has a haunting resemblance to the bow and arrow held by Rama, or the name of the epic *Rāmāyaṇa*, but this word in not found in Hindi dictionaries. If, however, we split the word in two and then take the individual meanings of '*sāra*' (essence) and '*ayana*' (home), then we can reach a meaning which would imply that Ram is the home of the true essence, as a formless description of him. But combined with the last half of the line where we have the ten heads of the king Ravana being

71 See Kunhan Raja 1944, 57. "*dhakai auraṅga rai avara chatra dhūjiyā; dhakai kāraṇa sāha rai sāha dhūjai*" (faced with the throne (of the Mughal emperor) the royal umbrella (of the Rajput princes) trembled; faced with king Karan, the (Mughal) emperor trembled).

cut off, we simultaneously get a description of Rama that has a form. In the last line Kinaram says I am also the legendary monkey general Hanuman of the epic *Rāmāyaṇa* who was always ready to bring to fruition every impossible task that came before him for the benefit of Lord Rama. Both Rama and Krishna mentioned in these six lined verses are gods in their own right in Hinduism, but they are also two very prominent incarnations amongst the ten incarnations of Lord Vishnu.

मैं कृतज्ञ कृतपाल पाप मैं पुन्य शुभाशुभ ।
महीं रैनि मैं दिवस मध्य तेहि रहत सदा तिथि ॥
महीं खीन अति छीन महीं आश्रम को बेरो ।
महीं बरन आबरन उभय मैं शिष्य घनेरो ॥[61]
महीं वेद बानी सकल अकल कला मोहिं में लहत ।
रामकिना मैं गुण अगुण निरालंब चाहत चहत ॥229॥

मैं अपने प्रति किये गए कर्मों के लिये कृतज्ञ हूँ, औरों के पालन हेतु कर्म करने वाला भी हूँ, मैं ही पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, सभी हूँ। मैं ही रात भी हूँ, दिन भी हूँ, और उनके मध्य का समय या तिथि भी हूँ। मैं इतना क्षीण-काय हूँ कि अत्यंत सूक्ष्म हूँ, क्षणिक भी हूँ, और मैं ही आश्रम के ज्ञान का रहस्य हूँ। मैं दृश्य और अदृश्य दोनों हूँ, मैं ही शिष्य समूह भी हूँ। मैं सभी वेदों की वाणी हूँ, अगणित कलाएँ मुझमें निवास करती हैं। रामकिना कहते हैं वही वह नितांत अकेले निरालम्ब हैं जिनकी इच्छा से इच्छारूपी सृष्टि हुई ॥ 229 ॥

कोई मेरा भला करे तो मैं कृतज्ञ होता हूँ, और मैं ही वह व्यक्ति भी हूँ जो अन्य लोगों के हितार्थ ऐसे भले कर्म करते हैं। मैं ही पाप-कर्म हूँ और मैं ही सभी प्रकार के पुण्य-कर्म भी हूँ, मैं ही वह सब कुछ हूँ जो शुभ होता है या अशुभ होता है। मैं ही रात्रि का अंधकार हूँ, मैं ही दिन का प्रकाश हूँ, और मैं वह समय भी हूँ जो दिन और रात के बीच में होता है।

अगली दो पंक्तियों का अर्थ समझने के लिये हमें कुछ विस्तार में जाना पड़ेगा। इन दोनों पंक्तियों में जो शब्द प्रयुक्त हैं – खीन, अति छीन, बेरो, बरन और आबरन – अपने-अपने विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं। हमारा ऐसा मंतव्य इसलिये है क्योंकि इन शब्दों के सामान्य अर्थ लगाने से इन दोनों पंक्तियों के अर्थ में सामंजस्य नहीं बैठता। 'महीं खीन अति छीन महीं आश्रम को बेरो' का एक दृष्टि से सामान्य अर्थ हो सकता है कि में बहुत दुबला-पतला, कृशकाय, आश्रम का बालक हूँ। किंतु हमें लगता है कि यहाँ कोई गूढ़ बात कही जा रही है। 'महीं खीन' का अर्थ केवल इनता ही नहीं है कि मैं बहुत दुबला-पतला हूँ, किंतु यह भी हो सकता है कि मैं इतना दुबला-पतला हूँ कि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हूँ, अर्थात् सरलता से दृष्टिगोचर नहीं होता। अगले वाक्यांश 'अति छीन' का अर्थ भी मात्र कृशकाय नहीं है, यहाँ यह 'छीन' के 'क्षणिक' अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है (दास 1965-75, 1644)। इस दृष्टि से इस पहले चरण, 'महीं खीन अति छीन' का अर्थ बन जाता है – मैं ही सूक्ष्म हूँ, और यदि दृष्टिगोचर हो भी गया तो क्षणिक हूँ, तुरत लुप्त हो जाता हूँ। छप्पय की इस पंक्ति में बाबा कीनाराम ने 'आश्रम को बेरो' अभिव्यक्ति का प्रयोग किया है। यहाँ 'बेरो' शब्द का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। कारण यह है कि हालाँकि दास (1965-75, 1523) तथा टंडन (1974, भाग 2: 1269) में यह शब्द मिल तो जाता है, लेकिन भक्ति के संदर्भ में इसका अर्थ 'बेड़ा', यानी लकड़ी के लट्ठों को रस्सी से बाँधकर बनाई हुई नाव, दिया हुआ है। छप्पय के इस संदर्भ में लेखक को यह अर्थ 'आश्रम का बेड़ा' असंगत जान पड़ता है। सर लिंली टर्नर की अ कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑफ़ द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज़ (संख्या 9238) में इसके मूल धातु से कुछ मेल खाते हुए शब्द 'बिड्डा' का एक अर्थ ;'बिट्टा' (लड़का) और 'बिट्टी' (लड़की) दिया हुआ है। तदनुसार छप्पय की इस पंक्ति के संदर्भ में 'बेटा', यानी 'आश्रम-पुत्र' या 'आश्रम का बालक' हो सकता है। किंतु लेखक की दृष्टि में यह अर्थ भी पूर्ण संतोषजनक नहीं है। एक और स्रोत है, 'राजस्थानी-डिक्शनरी'[62] जहाँ 'बेरो' तो नहीं, लेकिन 'बेरौ' शब्द अवश्य मिल जाता है, और इसके कई अर्थ दिये हैं, जैसे जानकारी, अनुभव, रहस्य, भेद, वस्तु-स्थिति का ज्ञान इत्यादि। लेखक को ये अर्थ, 'रहस्य, भेद, पहचान', इस संदर्भ में सबसे उचित लगते हैं क्योंकि इस छप्पय की अगली पंक्ति में 'शिष्य घनेरो' का भी नामांकन हुआ है, जिससे इस अर्थ की कुछ पुष्टि हो जाती है। तो छप्पय की इस पंक्ति, 'महीं खीन अति छीन महीं आश्रम को बेरो' का हम यह अर्थ लगा रहे हैं – मैं दृष्टिगोचर न हो सकने जितना अतिशय सूक्ष्म हूँ, दृष्टिगोचर हो जाने पर भी वह क्षणिक रहता है, और इस रूप में किसी ब्रह्मनिष्ठ आश्रम के सूक्ष्म ज्ञान के रहस्य जैसा हूँ।

यहाँ अगली पंक्ति के लिये भी कुछ व्याख्या उचित है। पंक्ति है 'महीं बरन आबरन उभय मैं शिष्य घनेरो', जिसके लिये हम सधारण रूप से कह सकते हैं, मैं दोनों ही, रंग और ढँकने की वस्तु हूँ, मैं ही शिष्य समूह भी हूँ। किंतु इसके पहले वाली पंक्ति से यह अर्थ मेल नहीं खाता। पंक्ति का प्रथम चरण है 'महीं बरन आबरन', जहाँ 'बरन' शब्द संस्कृत के वर्ण शब्द का ही रूपांतर लगता है। 'वर्ण' के कई अर्थ हैं, जैसे ढक्कन या किसी प्रकार का आवरण, किसी वस्तु या व्यक्ति का बाह्य स्वरूप, रंग-रूप, और वर्ण-व्यवस्था भी (देखें मोनियर विलियम्स 1899, 924)। इसी के विपरीत संस्कृत का शब्द है 'अवर्ण', जिसका अर्थ है कोई ऐसी वस्तु

61 तु. दास 2000, 149: 328 – अबरन बरन स्यांम नहीं पीत । होहू जाइ न गावै गीत ॥

62 देखें https://anjas.org/rajasthani-dictionary/berau-meaning.

maĩ kṛtajña kṛtapāla pāpa maĩ punya śubhāśubha;
mahĩ raini maĩ divasa madhya tehi rahata sadā tithi.
mahĩ khīna ati chīna mahĩ āśrama ko bero;
mahĩ barana ābarana ubhaya maĩ śiṣya ghanero.[72]
mahĩ Veda bānī sakala akala kalā mohĩ mẽ lahata;
Rāmakinā maĩ guṇa aguṇa nirālamba cāhata cahata. **229.**

I am the grateful and the gracious,
sin-virtue and the good and the bad;
I am the night, I the day,
I am also the intercalary time.
I am so thin as to be subtle, as also I am fleeting,
I am the mystery they dwell on in the ashram;
I the God who is formless, as also the God with a form,
I am also the countless number of disciples.
I am all the teachings of the *Vedas*,
all the perfect arts reside in me;
Kinaram says I am quality and defect,
I am the loner desiring desire. **229**.

I am the one who is grateful when a good deed is rendered unto me. Simultaneously, I am also the one who performs such kind and gracious acts. I am sin as well as virtue, I am all that is either auspicious or inauspicious. I am the dark of the night, I am also the light of the day, and I am also the time that lies in between the two.

The next two lines of this *chappaya* need some explanation. The words Baba Kinaram has used in these two lines – *khīna*, *ati chīna*, *bero*, *barana*, *ābarana* – seem to have been used in a special way. We say this because taking these words at their face value does not lead to a harmony of meaning between the two lines. From a simplistic point of view we can translate the first line as 'I am thin, I am emaciated, I am a boy of the ashram'. But it seems to the author as if something deeper is being stated here. The expression '*mahĩ khīna*' does not imply only that I am extremely thin, but that I am so subtle as to be imperceptible. Similarly, '*ati chīna*' does not mean that I am extremely weak, but that due to my imperceptible nature, even if perceived, that glimpse of mine is fleeting. The last word in this line is '*bero*'. In the *Dictionary of Bhakti* (1523) and the *Braj-Bhasha Brajbhāṣā Sūr-Kośa* (part 2, ni-hā, 1269), we do find this word, but its meaning is listed as 'a raft'. If we accept this meaning then the last part of this line, '*āśrama ko bero*', would mean 'I am the raft of the ashram', which does seem to be the right interpretation. Turner's *A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages* (entry number 9238) lists some words which draw from the same root and lists them as '*bittā*' (boy/son) and '*bittī*' (girl/daughter). If we accept this meaning then the last part of the line would imply 'I am the ashram's son'. Even this, however, does not seem very satisfactory to the author. Yet another source for this word, the *Rajasthani Dictionary*, lists '*berau*' (not *bero*), and lists various meanings ascribed to this word as information, experience, mystery, knowledge of the state at hand, recognition

72 Charlotte Vaudeville, in her French translation, translates '*abaran*' (अबरन) as *l'indescriptible* 'indescribable' (1957, 59).

जिसकी कोई बाहरी रूप-रेखा, कोई रंग न हो। विवेकसार में कुछ इसी परिकल्पना के साथ 'निरंजन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी 'अवर्ण' का रूपांतर 'अबरन' है, और 'अबरन' के रूप में कबीरदास, रविदास आदि संतों की वाणियों में इसका उल्लेख मिल जाता है।[63] चूँकि बाबा कीनाराम ने इसे 'आबरन' लिखा है, यह शब्द 'आवरण' (ढँकने की वस्तु) या 'आभरण' (आभूषण) के समान लगता है। किंतु संतों की वाणी से मिलान करने पर यह 'अबरन' का ही रूपांतर लगता है। इसलिये लेखक ने इसे सगुण-निर्गुण का द्योतक मानना ही सही समझा है। मैं दैवीय शक्ति की सगुण कल्पना हूँ जिसका वर्णन किया जा सकता है, और मैं उसी की निर्गुण कल्पना भी हूँ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मैं ही इस संसार में वर्तमान शिष्य वृन्द भी हूँ। संसार के जितने भी शब्द हैं, जितना भी ज्ञान है, और जितने भी वेद सरीखे धर्म-ग्रंथ हैं, मैं ही वह सब कुछ हूँ। संसार की जितनी भी कलाएँ हैं, और जितनी भी कलाओं की कल्पना की जा सकती है, वे सभी मुझी में परिलक्षित हैं। कीनाराम कहते हैं मैं ही सगुण यानी अच्छे गुण हूँ, मैं अवगुण यानी बुरे गुण हूँ, या अगुण अवस्था में सभी गुणों से परे हूँ। मैं ही वह परम सत्ता हूँ जो निरालम्ब है, जिसे किसी भी सहारे की आवश्यकता नहीं है। मैं ही वह नितांत अकेला हूँ जिसकी इच्छा का ही परिणाम यह इच्छारूपी सृष्टि है।

63 "अबरन बरन कहै जनि कोई । घट घट व्यापि रह्यो हरि सोई ॥" (चंद्र 2012, 137) तथा, "'रविदास' इकही बूंद सों, सब ही भयो बित्थार । मूरिख हैं जो करत हैं, बरन अबरन बिचार ॥" (देखें चंद्र 2012, 157). इस पद की शब्दावली में 'बरन अबरन' को एक साथ उद्धृत कर 'छोटी-बड़ी जाति' का इंगित कहा गया है, हालाँकि पहले के पद एवं अन्य पदों में 'अबरन' का अर्थ अवर्णनीय, अनिर्वचनीय ही बताया गया है, और बरन का रंग, रूप, आकार।

etc.[73] These meanings seem more attuned to the intention of Baba Kinaram in this line of the verse. For this reason, we have translated this last part of the line to mean: this particularity of mine (of being barely perceptible and fleeting if perceived) is what forms the gnosis of mystery in an ashram devoted to the experience of the *Brahman*. This meaning appears justified also because in the very next line Baba Kinaram mentions disciples, which lends credence to this line being interpreted as a practice of the disciples to seek the ultimate truth.

Similarly, the next line also needs a brief discussion. We could translate it simplistically as 'I am colorful, I am the covering, I am the group of disciples'. But this meaning does not harmonize with what we have concluded about the previous line. So we need to take a closer look. In the first part of this line we find the words *barana*, *ābarana*. The word *barana* seems to be a modification of the Sanskrit word '*varṇa*' which means a cover or lid, the outer form of a thing or person, the color and features, as also, the system of social hierarchy (see Monier-Williams 1899, 924). As an opposite of '*varṇa*' the word '*avarṇa*' implies a thing or person without any external attributes. In the *Viveksār*, the word *nirañjan* has been used to imply such a lack of attributes. The word '*abarana*' is a modification of this '*avarṇa*', and as '*abarana*' we find mention of this word in the writings of saints like Kabirdas and Ravidas etc.[74] However, since Baba Kinaram has spelled this word as '*ābarana*', it seems to imply either a cover or lid (*āvaraṇa*), or jewelry (*ābharaṇa*). Therefore, the meaning of this line attains clarity on comparing it with the language of the other saints, and the spelling of it as '*ābarana*' implies the same thing as '*abarana*' as used by other saints. For this reason, the author has taken these two words to mean the two forms of the ultimate divine, the one which has a form, and the other, which is formless. So, the translation goes: I am the God who has a form and is describable, and I am also the God who is formless and indescribable. I am all the disciples that exist in the world. I am all the words, knowledge and wisdom of all the scriptures like the *Veda*s. I am the beauty that is represented in all the uncountable arts that exist or that can be imagined. Kinaram says I am good traits as well as the bad ones (also possible: I am full of traits as also I am the one without any traits at all). I am the one who is self-supported, the loner whose desire desired there to be a world (which is to say, I am the divine personified whose desire has brought forth this creation).

73 See https://anjas.org/rajasthani-dictionary/berau-meaning.

74 "*abarana barana kahai jani koī*; *ghaṭa ghaṭa vyāpi rahayo hari soī* (Formless and with a form are what some people mention about the God Hari; but that Hari is present in every body [form] that exists) (Chandra 2012, 137). Also: "'*ravidās*' *ikahī bũnda sõ saba hī bhayo bitthāra; mūrikha haĩ jo karat haĩ barana abarana bicār*" (Ravidas says that everything as developed out of just one drop. They are foolish who dwell upon the thought of formless or with a form) (Chandra 2012, 157). In this second verse, though *barana abarana* has been taken to mean high and low castes. In the first verse, and other verses of Ravidas, *baran* implies a deity with a form, and *abaran*, a formless one.

मैं जोगी मैं जुक्ति भुक्ति मैं आतमज्ञाता ।
मैं तरुवर मैं मूल साख मैं फल रंग राता ॥
महीं पच्छ महीं पत्र हरित मैं जरद श्याम अति ।
मैं अरक्त मैं स्वेत अंग संग मैं मेरी गति ॥[64]
मैं अंतर अंतर रहित मैं अभेद सब भेद मैं ।
रामकिना खोटो खरो सहित खेद गतखेद मैं ॥230॥

मैं योगी हूँ, मैं योग साधने की युक्ति हूँ, मैं इनका आनंद भोगी हूँ, मैं आत्मज्ञानी भी हूँ। मैं पेड़ हूँ, उसकी जड़ हूँ, शाखा हूँ, और मैं ही लाल रंग का फल भी हूँ। मैं ही पक्षी हूँ, और उनके हरे, सुनहरे और काले पंख भी। मैं रंग-विहीन और श्वेतांग दोनों हूँ, अपनी गति (भाग्य) का विधाता भी स्वयं हूँ। मैं निरंतर बना रहने वाला, और निरंतरता-भंग भी हूँ, मैं पूर्णतया भेद-रहित और सभी भेद भी हूँ। रामकिना कहते हैं मैं खोटा हूँ, खरा हूँ, खिद्यमान हूँ और खेद-रहित भी ॥ **230** ॥

आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में मैं योगी हूँ, उस खोज में जिस युक्ति या नियम-संयम का पालन होता है वह भी मैं हूँ, मैं ही सब प्रकार का कठिन तप हूँ और मैं ही संसार में उपस्थित सभी प्रकार के भोग भी हूँ। वह मैं ही हूँ जो पिंड में बसे शाश्वत सत्य, अपनी आत्मा, का ज्ञाता है। मैं ही वृक्ष हूँ, मैं ही उसकी जड़ हूँ, मैं ही उसकी शाखाएँ हूँ, और उन पर लगने वाले विभिन्न रंगों के फल भी मैं ही हूँ। मैं ही आकाशचारी पक्षी हूँ, और मैं ही उसके विभिन्न रंगों जैसे, हरे, पीले और काले पंख हूँ, जिनकी सहायता से वह उड़ता है। मैं रंगविहीन भी हूँ, मैं ही श्वेत अंगों वाला हूँ, मैं अपने भाग्य का निर्धारण स्वयं करने वाला हूँ। मैं निरंतर बना रहनेवाला हूँ, मैं वह भी हूँ जिसकी निरंतरता भंग हो जाती है। मैं भेद की अभिव्यक्ति हूँ, और अभेद की अभिव्यक्ति भी मैं ही हूँ। कीनाराम कहते हैं मैं ही खोटापन या दुष्टता या क्षुद्रता हूँ, और मैं ही खरापन या स्वच्छता या विशुद्धता हूँ। मैं ही वह भी हूँ जिसे जीवन में कोई ग्लानि या अप्रसन्नता त्रास देती हो, और मैं ही वह हूँ जो सभी प्रकार की ग्लानि और अप्रसन्नता से ऊपर उठ चुका हो।

64 इस पंक्ति का गूढ़ तांत्रिक अर्थ भी सम्भव है क्योंकि मोनियर-विलियम्स, (1960, 7) में 'अंग संग' के लिये शारीरिक सम्बंध या मैथुन का अर्थ इंगित है। यदि हम यह अर्थ मानें तो 'मैं अरक्त मैं स्वेत' का अर्थ रज-वीर्य भी हो सकता है। ऐसा होने पर हम पाते हैं कि बाबा कीनाराम ने बाहरी संसार का वर्णन वृक्ष, पक्षी, फल इत्यादि के रूप में किया, तदनंतर, आंतरिक संसार की मूलभूत प्रक्रिया की चर्चा के लिये 'अंग संग' का प्रयोग किया।

maĩ jogī maĩ jukti bhukti maĩ ātamąjñātā
maĩ taruvara maĩ mūla sākha maĩ phala raṅga rātā
mahĩ paccha mahĩ patra harit maĩ jarada śyāma ati
maĩ arakta maĩ sveta aṅga saṅga maĩ merī gati
maĩ antara antara rahit maĩ abheda saba bheda maĩ
Rāmkinā khoṭo kharo sahita kheda gatakheda maĩ. **230.**

I am the yogi, the skill-in-means, I the enjoyment,
I am the knower of the Self;
I am the fine tree, the root, the branch
I am the fruit of the color red.
I am the bird(s), I am the wing,
I the green feather, I am yellow and darkest black;
I am colorless, also white limbed,
I am my own ultimate fate.[75]
I am the break as also the continuity,
I am undivided, and all division I;
Kinaram says I'm the false and the genuine,
I am regretful as also past regrets. **230**.

In the pursuit of spiritual accomplishment, I am the Yogi who seeks unity, I am the discipline and the skills they use to attain such unity. I am the abstention as well as the enjoyment that exists in this world. I am the one who knows the eternal truth of the Self that is worth knowing. I am the tree, I am its roots, I am its branches, and I am the multi-colored fruits that come upon it. I am the bird that flies, I am the wings of many different colors like green and yellow and black that it flies with. I am colorless (or as if blank), I am white, I am the one who is responsible for determining my ultimate fate. I am the break in continuity, I am the one without any breaks or division (implying, I am whole), I am the one that is category differentiation of all kinds, I am the one without any duality or distinction at all. Kinaram says I am false or fake as well as genuine or real. I am the one who has regrets, and I am also the one who is past all regrets.

75 It is possible to have and alternate, tantric interpretation of this line because Monier-Williams ([1899] 1960), 7 lists *aṅga saṅga* as bodily contact, coition. If we take this interpretation then the phrase *maĩ arakta maĩ sveta*, I am colorless, I am white, *can* imply the female and male sexual fluids in the act of coition. In this instance then, Baba Kinaram would have covered objects external to the physical body such as the trees, the fruits, the birds etc., and also the fundamental process that takes place within the physical body.

महीं अनल मैं आज्य महीं होमी मैं होमा ।
अहं मंत्र सिद्धांत महीं व्यापक जेते रोमा ॥
महीं मच्छ बाराह कच्छ मैं नरसिंह वेषा ।
महीं कल्प मैं वर्ष मास मैं पक्ष विशेषा ॥
मैं सत त्रेता उभय पर कलयुग चार सँभारकर ।
रामकिना मैं नामवर सब सुलहत सब घर अघर ॥231॥

मैं यज्ञाग्नि हूँ, हविष्य हूँ, आहुति करने वाला और देवयज्ञ भी हूँ। मैं मंत्र हूँ, उसका सिद्धांत हूँ, और उसी प्रकार व्यापक हूँ जैसे काया में रोमावली। मैं ही दशावतार का मत्स्य, वाराह, कच्छप एवं नरसिंह हूँ। काल-गणना में मैं ही कल्प, वर्ष, मास और चंद्रमा के कृष्ण और शुक्ल पक्ष हूँ। मैं चारों युग, यानी सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग हूँ। रामकिना कहते हैं कि मैं वह नाम हूँ जो, चाहे गेही हो या अगेही, अंदर-बाहर जहाँ भी रहे, सभी कंटकों को निर्मूल करता हूँ ॥ **231** ॥

अग्निहोत्र यज्ञ में मैं ही अग्निदेव हूँ, मैं ही हवन सामग्री हूँ, मैं ही विधि-विधान हूँ, और मैं ही हवन करनेवाला व्यक्ति हूँ। मैं ही मंत्र हूँ, मैं ही मंत्र-शक्ति का सिद्धांत हूँ, मैं उस स्पंदन की तरह हर स्थान पर ऐसे व्याप्त हूँ जैसे किसी के शरीर पर होनेवाली रोमावली। [भगवान विष्णु के अवतारों में] मैं ही मत्स्यावतार हूँ, मैं ही वाराह अवतार हूँ, मैं ही कच्छप अवतार हूँ, और मैं ही हूँ जो नरसिंह के वेष में स्तम्भ फाड़ कर प्रकट हुआ था। समय और काल की जितनी भी परिकल्पनाएँ हो सकती हैं, मैं वह सभी हूँ, क्योंकि मैं ही ब्रह्मा का कल्प हूँ, मैं ही वर्ष हूँ, मैं ही महीना हूँ, और मैं ही उस महीने को दो में विभाजित करनेवाला कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष हूँ। मैं ही समय के आरम्भ में सतयुग हूँ, मैं ही त्रेता हूँ, मैं ही द्वापर हूँ, और मैं ही कलियुग भी हूँ। कीनाराम कहते हैं कि मैं ही वह नाम भी हूँ जिसे सभी याद करते हैं, चाहे वे गृहस्थ हों या सन्यासी, जब वे चाहते हैं कि उनके घर में और बाहर भी, उनके जीवन में सब कुछ सम-समान, सुचारु और सुलझा हुआ रहे, क्योंकि मैं उनके मार्ग को कंटकविहीन करता हूँ।

विवेकसार के छप्पय की इस अंतिम पंक्ति में 'घर अघर' कहा गया है जो अपने आप में अर्थ रखता है। इसमें कोई त्रुटि नहीं है। लेकिन एक बात जो कुछ असंगत लगती है वह यह है कि इस पूरे छप्पय में बाबा कीनाराम ने हमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से सम्बंधित अवयवों का अवलोकन कराया है, जैसे देवयज्ञ, व्यापक मंत्र एवं सिद्धांत, विष्णु के दशावतार स्वरुप, समय के कल्प और युग इत्यादि। किंतु अंत में वे इसे एक बहुत ही छोटी से इकाई, घर या उससे बाहर, क्यों सीमित कर देते हैं? कहीं यह प्रथम बार पाण्डुलिपि के आधुनिक छापेखाने में हुए रूपांतर के कारण वर्तनी की असावधानता का परिणाम तो नहीं? ऐसा हमें संदेह इसलिये होता है क्योंकि 'घर अघर' से बहुत कुछ मिलती-जुलती अभिव्यक्ति गोरख-बानी में मिलती है। किंतु यहाँ इसकी वर्तनी 'धर अधर' है। यहाँ 'धर अधर' को पृथ्वी और आकाश, मणिपूर और ब्रह्मरंध्र, कुण्डलिनी और अलक्ष्य ज्योति, माया और ब्रह्म इत्यादि का द्योतक कहा गया है।[65] इस प्रकार का सार्वभौमिक दृष्टिकोण बाकी के इस छप्पय के भाव से मेल खाता है।

65 "अधरा धरे बिचारिया, धर या ही मैं सोई ॥ धर अधर परचा हूवा, तब उती नाहीं कोई ॥" इस पद की व्याख्या में लिखा है – अधर (शून्य ब्रह्मरंध्र) में हमने ब्रह्मतत्व का विचार किया। (अधर में तो वह है ही); इस धरा में भी वही है। (मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक सर्वत्र उसकी स्थिति है। कहीं वह स्थूल रुप से है, कहीं सूक्ष्म रुप से।) जब धर अधर का परिचय हो जाता है, जब मूलस्थ कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रास्थ शिव से परिचय हो जाता है तब साधक के लिये उधर अर्थात् अपने अनुभव ज्ञान से बाहर कुछ नहीं रह जाता। (देखें बड़थ्वाल 1960, 34 संख्या 98)।

mahĩ anala maĩ ājya mahĩ homī maĩ homā;
ahaṁ mantra siddhānta mahĩ vyāpaka jete romā.
mahĩ maccha bārāha kaccha maĩ Narasiṁha veṣā;
mahĩ kalpa maĩ varṣa māsa maĩ pakṣa viśeṣā.
maĩ sata tretā ubhaya para kalyuga cāra sãbhārakara;
Rāmakinā maĩ nāmvara saba sulahata saba ghara aghara. **231**.

I am the fire and the ghee,
I, the priest and the ritual;
I am the mantra and its principle,
I am as pervasive as hair follicle.
I am the fish, the boar, the tortoise
and the man-lion incarnations of Vishnu;
I am the eon, the year, the month,
I, the particular phase of the moon.
I am the Satya, the Treta, the Dvapar,
the Kaliyuga as four ages to superintend;
Kinaram says I am the celebrated name
that solves all problems at home and beyond. **231**.

In the fire sacrifice I am the fire as well as the clarified butter which is put into it an oblation. I am the one performing the fire ritual, and I am the act of the ritual itself. I am the mantra and the principle that animates it. I am as ubiquitous in this world as hair on a person's body. In terms of the incarnations of Lord Vishnu I am the fish (incarnation), the wild boar (incarnation), the tortoise (incarnation) and I am the half man-lion (incarnation). Which is to say, all the incarnations have been my own forms. I am the guardian of all time being the '*kalpa*' which forms the Brahma's time, I am the year that passes, I am the month, and I am the bright and dark phases of the moon that divide the month into two. I am the four *yugas* themselves since the beginning of time, namely – *satyauga*, *tretā*, *dvāpara* and *kaliyuga*. Kinaram says that I am that one divine name that people always remember, whether they be householders or renunciates, so that their troubles and misfortunes, whether at home or outside of it, can be negated, and everything can be set right for them to follow their path again.

The last line of this *chappaya* in the *Viveksār* has the words '*ghar aghar*'. These two words make perfect sense, there is no error in the way they are used here. But it seems a little inconsistent to us that after taking us through a cosmological journey which includes the fire rituals for the gods, the cosmic pervasiveness of the mantra and its principle, the incarnations of Vishnu, the cosmic subdivisions of time, Baba Kinaram would end the verse with a somewhat flat reference to the home and outside. Is it possible that the first time when the manuscript was typeset in a modern press, an inattention to the spelling led to the writing of '*dhar adhar*' as '*ghar aghar*'? This is because in the *Gorakha-Bānī* we do find the phrase '*dhar adhar*' and in that context it signifies the earth and the sky, the *maṇipūra cakra* and the *brahmarandhra*, the *kuṇḍalinī* and the imperceptible flame, the illusion and the *Brahman*.[76]

76 *"Adharā dhare bicāriyā, dhara yā hī maĩ soī; dhara adhara paracā huvā, taba utī nāhĩ koī"*. This verse has been explained as: "We considered the *Brahman* element in the self-supported *adhara* (the *brahmarandhra*). (It is, of course, self-supported); it is so also on this earth. (It extends from the *mūlādhāra cakra* right till the *brahmarandhra*. In some places it is in a subtle form, in

महीं नखत नभ उदय अनुग्रह ध्रुव उत्रायन ।
मैं दक्खिन त्रैकोन कोन षट दिशा परायन ॥
मैं खेलों चौगान खेल मैं लकुट गेंद छिति ।[66]
महीं नाग मैं नाथ सारदा गंग सदा तिथि ॥
मैं गज कीट पिपीलिका व्रत तीरथ मोहिं महँ रह्यौ ।
रामकिना सतगुरु कृपा नखत जात अभिजित लह्यौ ॥232॥

मैं ही आकाश में उगने वाला नक्षत्र हूँ, चंद्रमा हूँ, उत्तर दिशा का ध्रुव तारा हूँ। मैं आकाश-मण्डल का दक्षिण त्रिकोण हूँ, और सभी दिशाएँ एवं उनके विभाजन हूँ। मैं इस असीम आकाश के मैदान में गेंद, बल्ला बनकर चौगान खेल खेलता हूँ। मैं ही शेषनाग हूँ, सरस्वती नाथ ब्रह्मा हूँ, और गंगाधारी महादेव हूँ। मैं हाथी हूँ, चींटी हूँ, सभी व्रत और तीर्थ मुझमें निहित हैं। कीनाराम कहते हैं वे नक्षत्रों में अभिजित नक्षत्र के समान हैं ॥ **232** ॥

आकाश और अंतरिक्ष को दृष्टि में रखते हुए वे कहते हैं मैं ही वह नक्षत्र हूँ जो नभ में उदय होता है, मैं ही उपग्रह या चंद्रमा हूँ, मैं ही ध्रुव तारा हूँ, और मैं ही सूर्य का उत्तरायण पथ भी हूँ। मैं ही दक्षिण का त्रिकोण हूँ, और दिशाओं का षटकोण भी हूँ। इस सीमाहीन आकाश के अंतरिक्ष में मैं वह चौगान खेल (पोलो जैसा खेल) खेलता हूँ जहाँ मैं ही खेलने की छड़ी हूँ, मैं ही पृथ्वी रूपी गेंद हूँ और मैं ही मैदान भी हूँ। मैं ही वह शेषनाग हूँ जिनके शरीर की शय्या पर भगवान विष्णु सोते हैं, मैं ही सरस्वती का नाथ ब्रह्मा हूँ, और मैं ही आसनस्थ शिव हूँ जिन से गंगा की धारा बहती है, यानी मैं ही स्वयं त्रिमूर्ति हूँ। पशुओं में मैं हाथी के जैसा विशाल हूँ। छोटे-छोटे कीड़ों में मैं चींटी जितना छोटा हूँ। जितने भी तीर्थ हैं, त्यौहार हैं, व्रत हैं, क्रियाएँ हैं, सभी मैं हूँ, वे सभी मेरी ही अभिव्यक्ति हैं। कीनाराम कहते हैं कि अपने सतगुरु की कृपा से मैं नक्षत्रों में अभिजित नक्षत्र हूँ जो सफलता और विजय का पर्याय माना जाता है।

बाबा कीनाराम ने जो ग्रह-नक्षत्रों का वर्णन यहाँ किया उसपर एक दृष्टि डालते हैं। उन्होंने प्रथम पंक्ति में 'अनुग्रह' शब्द का प्रयोग किया है। आम हिंदी में अनुग्रह शब्द का अर्थ होता है कृपा, यानी किसी पर कृपा करना। किंतु यहाँ कदाचित वे संस्कृत के 'अणु-ग्रह' शब्द का बोलचाल की भाषा में प्रयोग कर रहे हैं। इसलिये अणु-ग्रह से अनुग्रह, यानी छोटा ग्रह अथवा उपग्रह के रूप में यहाँ प्रयुक्त हुआ सम्भव है। हालाँकि अंग्रेज़ी में प्लूटो सरीखे छोटे ग्रह को "ड्वार्फ़ प्लैनेट" (बौना ग्रह) कहते हैं, लेकिन यहाँ हो सकता है कि बाबा कीनाराम उपग्रह के बारे में कह रहे हों। इसीलिये हमने यहाँ चंद्रमा शब्द का प्रयोग उचित समझा है।

यहाँ दक्षिण के त्रिकोण और दिशाओं के षटकोण की भी कुछ समीक्षा अनुपयुक्त नहीं होगी। हिंदी शब्दसागर (दास 1965-75, 1115 खगोल) के अनुसार आधुनिक ज्योतिर्विदों ने समस्त खगोल को 12 वीथियों में विभक्त किया है। प्रत्येक वीथि के अंदर कई मंडल भी गिने गये हैं। इस प्रकार 12 वीथियों के अंदर कुल 84 मंडल माने गये हैं। इनमें जो अष्टम वीथि है उसमें पाँच मण्डल हैं जिनके नाम हैं हरिकुल, किरीट, सर्प, वृश्चिक, और दक्षिण त्रिकोण। यही लगता है कि सूर्य के उत्तरायण मार्ग का उल्लेख कर बाबा कीनाराम दक्षिण त्रिकोण नाम के इस तारामंडल की बात कह गये हैं।[67] यह तो ज्ञात है कि प्राचीन हिंदू शास्त्रों में कई तारामण्डलों के नाम आते हैं जैसे शिशुमार (विष्णुपुराण), त्रिशंकु (वाल्मीकि), सप्तर्षि इत्यादि। विकिपीडिया के अनुसार दक्षिण त्रिकोण तारामण्डल की खगोलीय गोले में पहचान सन 1589 में हुई थी। सन 1755 में विवेकसार लिखते समय बाबा कीनाराम इसके नाम से परिचित हो चुके थे।

इसी तरह से षट दिशा परायण वाला कथन भी है। हिंदुओं में चार मूल दिशाओं – उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम – के अतिरिक्त कई बार दो और गिने जाते हैं – ऊर्ध्व और अध: - यानी ऊपर और नीचे। कुल मिलाकर ये 'हर दिशा' के द्योतक हैं जिन्हें षट दिशा भी कहा जाता है। लेकिन शास्त्रों में तो मूल दिशाओं के मध्य की दिशाएँ, जिन्हें विदिशा कहा जाता है, के भी नाम हैं, यथा ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, और वायव्य। इन सब को जोड़ें तो कुल दस दिशाएँ गिनी जाती हैं। लेकिन इतनी गिनती करने के स्थान पर बाबा कीनाराम 'कोन षट दिशा परायन' कह कर बात को पूरी कर देते हैं।

66 चौगान खेल का उल्लेख गोरखनाथ की वाणियों में मिलता है। देखें बड़थ्वाल 1960, 27: 76, "अवधू मनसा हमारी गींद बोलिये, सुरति बोलिये चौगानं। अनहद ले षेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं॥" और पद 14, "रमि रमिता सो गहि चौगानं"।

67 विकिपीडिया (दक्षिण त्रिकोण तारामंडल - विकिपीडिया (wikipedia.org) के अनुसार दक्षिण त्रिकोण तारामण्डल का अंग्रेज़ी नाम ट्राएंगुलम ऑस्ट्राले है। यह "खगोलीय गोले के दक्षिणी भाग में स्थित एक छोटा सा तारामण्डल है। .. इस तारामण्डल के तीन सबसे रोशन तारे अगर काल्पनिक लकीरों से जोड़े जाएँ तो एक समभुज त्रिकोण बनता है। इसे स्पष्ट रूप से त्रिकोण तारामण्डल से भिन्न बताने के लिये दक्षिण 'त्रिकोण' का नाम दिया गया।"। इसे पहली बार खगोलीय गोले में सन 1589 में पेत्रस प्लांसियस ने इंगित किया था (Triangulum Australe - Wikipedia: https://en.wikipedia.org/wiki/Triangulum_Australe)।

This kind of a cosmic vision seems much more in keeping with the tenor of rest of this *chappaya*.

mahĩ nakhata nabha udaya anugraha Dhruva utrāyana;
maĩ dakkhina traikona kona ṣaṭa diśā parāyana.
maĩ khelõ caugāna khela maĩ lakuṭa gẽda chiti;[77]
mahĩ nāga maĩ nātha Sāradā Gaṅga sadā tithi.
maĩ gaja kīṭa pipīlikā vrata tīratha mohĩ mahã rahyau;
Rāmakinā satguru kṛpā nakhata jāta Abhijita lahyau. **232**.

I am the asterism that rises in the sky,
the moon, the polestar, the Sun's northern arc;
I am the triangle of the south,
and the angles that all six directions make.
I play the polo game in the cosmic amphitheater
as the club, and the ball as the earth;
I am the serpent, the lord of Saraswati,
the waters of the Ganges that continuously flow.
I am the elephant, the insect and the ant,
all religious rites and pilgrimage remain in me;
Kinaram says by his guru's grace,
he obtained the asterism Abhiji amongst all the stars. **232**.

I am the asterisms, planets and the satellites (such as the moon) that rise in the sky (which is also me), I am the polestar of the north, as well as the northern and southern paths followed by the sun (the paths that lead to equinoxes and solstices). I am the triangle of the south and the angle formed by all the six directions. This entire cosmic sky is my Polo playing field where I am the ground, I am the club, and I am the ball to play with. I am the great serpent *Śeṣnāg* on whom reclines the Lord Vishnu. I am the Lord of Sarasvati (Brahma) and Shiva the lord (*natha*) of the river Ganges (thus I am the Hindu Trinity itself). Amongst animals I am as large as the elephant. Amongst insects I am as small as the ant. All the religious observations and performances like fasting and pilgrimages are but expressions of me. Kinaram says by the Guru's grace, amongst the category of asterisms he has achieved the status of the *Abhijit* asterism (which denotes success and victory).

Some of the astronomical entities enumerated by Kinaram need a little attention here. In the first line he has used the word '*anugrah*' which, in conversational Hindi, would imply bestowing grace or kindness on someone. But that does not fit with the context of the whole line. We feel '*anugrah*' is a colloquialization of the Sanskrit word '*aṇu-grah*', implying a small planet or a satellite. In English, though, small planets such as Pluto are also termed 'dwarf planets' but to us it seems as if Baba Kinaram is talking about satellites. That is why we have chosen to translate it as the moon.

It is useful to dwell here on the terms 'the triangle of the south' and 'the angle of the six directions'. According to the *Hindi Śabdasāgar* (Das 1965-75,

others, in a gross form). When one gets to know the *dhara adhara*, when the *kuṇḍalinī* power in the *mūla cakra* becomes one with the Shiva in the *sahasrāra cakra*, then nothing exists for the seeker outside of his own sphere of experience" (Barthval 1960, 34 no. 98).

77 The polo like game mentioned here is found also in Gorakhnāth's texts. See Djurdjevic, Singh 2019, *sabad* 76, *pad* 14.

कुछ साधुओं का मत है कि यहाँ 'दक्षिण त्रैकोन' का एक तांत्रिक गूढ़ार्थ भी हो सकता है। प्राय: नवरात्रि इत्यादिक उत्सवों में बनाई जाने वाली गोल वेदी पर शिव और शक्ति के सामंजस्य को दर्शाते हुए दो त्रिकोण बनाए जाते हैं जिनमें एक का शीर्ष ऊपर की ओर होता है और दूसरे का नीचे की। यदि गोल वेदी पूरी सृष्टि-रचना का मानचित्र मानी जाए, तो ऊपर शीर्ष वाले त्रिकोण को शिव का प्रतीक, और नीचे शीर्ष वाले त्रिकोण, दक्षिण त्रिकोण, को शक्ति का प्रतीक माना जाएगा। इस प्रकार गोल वेदी में सभी दिशाएँ और यह शक्ति प्रतीक दक्षिण त्रिकोण मिलकर पूरी सृष्टि को इंगित करते हैं। चूँकि बाबा कीनाराम अपने विराट स्वरुप का वर्णन कर रहे हैं, इस प्रकार का गूढ़ार्थ अनुमान भी लगाया जा सकता है।

1115 khagol) modern astrologists have divided the entire celestial globe into 12 pathways. Within each pathway exist many constellation clusters. In this way they count 84 constellations within these 12 pathways. Of these, the eighth pathway has five constellations that are named: Harikul, Kirīṭ, Sarpa, Vr̥ścik, and Daksiṇa Trikoṇa. It appears that having mentioned the northern pathway of the Sun, Baba Kinaram balances the narrative by mentioning the constellation named the triangle of the south.[78] It is well known that many ancient Hindu scriptures mention several constellations such as the *Śiśumār* (*Viṣṇu Purāṇa*), *Triśanku* (*Vālmiki*), *Sapataṛṣi* etc. According to Wikipedia the Triangulum Australe was marked in 1589. It is interesting that in the year 1755 while working on the *Viveksār*, Baba Kinaram had already become familiar with that name.

In the same way, the phrase about the angles of the six directions can use some explanation. Amongst the Hindus, other than the four cardinal directions – north, south, east and the west – two other directions are recognized, the 'above' and the 'below'. Together, these six represent 'all the directions' in colloquial language. But there exist names for the directions that fall in between the spaces of the cardinal directions, namely *Īśāna*, *Āgneya*, *Naiṛtya*, and *Vāyavya*. If we add these four to the already existing six, we get a total of 10 directions. But instead of adding directions in this way Baba Kinaram uses the phrase 'angles of all the six directions' which includes all the spaces in between, and thus he concludes the matter.

Some monks surmise that there could be a tantra specific hidden meaning in the discourse on the 'triangle of the south'. During festivals like *Navarātri* a round base is made on which two triangles, superimposed like the familiar Star of David are drawn, one with its head facing up or north, and the other with its head facing down or south. The triangle pointing up or north represents Shiva, the triangle facing down or south, the Shakti. If the round base is viewed as a representative map of the created universe which includes all the directions, then the down or south facing triangle symbolizes the Shakti and her presence in the created universe. Since Baba Kinaram is describing his 'cosmic form', such an esoteric interpretation is also a possibility.

78 According to Wikipedia the name of this triangle of the south is Triangulum Australe. It is visible in deep south from the southern hemisphere. Within it there exist three bright stars which, if joined by imaginary lines, form a perfect equilateral triangle. To differentiate it from the triangle that exists also in the northern hemisphere, it has been named the Southern Triangle. It was depicted on the celestial globe for the first time in the year 1589 by Petrus Plancius (Triangulum Australe – Wikipedia: `https://en.wikipedia.org/wiki/Triangulum_Australe`).

मैं अनीह अद्वैत बुद्धि मैं परम विचारा ।
निरालंब निस्प्रेह अग जग रहित परकारा ॥
नहिं आवों नहिं जाउँ मरों जीवों नहिं कबहूँ ।
त्रिगुनादिक मिटि जाहिं अमर मैं गावों तबहूँ ॥
मैं अदेश ओदेश हिये अजपा जप जापियों ।
रामकिना सतगुरु कृपा राम नाम दृढ़ थापिवों ॥233॥

मैं इच्छा-रहित हूँ, द्वैतभाव से परे हूँ, मैं सर्वोच्च विचार हूँ। मैं स्वयं पर आलम्बित, निष्काम, समस्त चल-अचल सृष्टि से परे रहनेवाला हूँ। न मैं कहीं से आता हूँ, न कहीं जाता हूँ, न कभी मरता हूँ, न कभी जीता हूँ। जब काल-विलय में त्रिगुण तक समाप्त हो जाते हैं, तब भी मेरा अमरगान यथावत् चलता रहता है। मैं ही हर स्थान और काल के संचालन का निर्देश हूँ, अजपा जप जपता रहता हूँ। कीनाराम कहते हैं कि सतगुरु की कृपा से मैंने राम नाम को अविचल रूप से आत्मसात् किया हुआ है ॥ **233** ॥

और अंत में गुरु उस सत्यपुरुष की शून्य अवस्था का वर्णन करते हैं। कहते हैं कि मैं सभी प्रकार की इच्छा-आकांक्षाओं से परे हूँ, मैं सदैव अद्वैत बुद्धि हूँ और मैं ही सभी विचारों में परम चैतन्य विचार भी हूँ। मैं पूर्णतया निरालम्ब हूँ, स्वयं मैं ही अपना सहारा हूँ, मैं इस प्रकार अनाश्रित स्वयंभू हूँ। मुझमें किसी भी तत्त्व के लिये कोई आकर्षण नहीं है, न कोई लगाव है, न राग है। मैं सभी अवस्थाओं में पूर्णतया स्थिर रहता हूँ, मेरा कोई नाम नहीं है, मेरा कोई रूप नहीं है, मैं किसी भी आकार-प्रकार के बंधन में नहीं हूँ। मैं कहीं भी आता-जाता नहीं हूँ, इस प्रकार निरंतर बने रहते हुए मैं कभी न जीता हूँ न कभी मरता हूँ। जब सृष्टि का विलय हो जाता है, यहाँ तक कि इस रचना के मूल कारण तीन गुण और पंचमहाभूत तक मिट जाते हैं, उस समय भी मैं अपने आप में लीन वर्तमान रहता हूँ। मैं ही वह सिद्धांत हूँ जिसकी परिभाषा के आधार पर सृष्टि के सभी उपयुक्त-अनुपयुक्त स्थानों पर अपने आप में अजपा जप में निरंतर रत रहता हूँ। कीनाराम कहते हैं कि अपने सतगुरु की कृपा से वे राम, अर्थात जगतस्रष्टा के स्पंदन में सदा निमग्न रहते हैं।

इस छप्पय की पाँचवीं पंक्ति के पहले चरण में 'आदेश ओदेश' प्रयुक्त है। यहाँ हम इस वाक्यांश की विवेचना इसलिये कर रहे हैं क्योंकि विवेकसार के विभिन्न संस्करणों में इस 'अदेश'' शब्द की वर्तनी में अंतर है। सन् 1965 और 1975 में छपे संस्करण में इसे 'अदेश' लिखा गया है, जब कि बाद के संस्करणों में इसे बदलकर 'आदेश' कर दिया गया है। इस छोटी सी वर्तनी के परिवर्तन से अर्थ में अंतर पड़ जाता है। 'अदेश' शब्द का अर्थ है 'अनुपयुक्त स्थान, बुरा देश' इत्यादि। इसी से सम्बंधित शब्द 'अदेश्य' का अर्थ है 'जो उपयुक्त स्थल या अवसर से सम्बद्ध न हो' तथा 'जिसका निर्देश करना उचित न हो' (दास 1965-75, 162)। आदेश का अर्थ आज्ञा होता है। लेकिन हिंदी शब्दकोशों में 'ओदेश' शब्द को पाना कठिन है। संस्कृत डिक्शनरी में एक बहुत ही छोटा सा विवरण मिलता है, वह भी 'यथा उद्देश्य' के संदर्भ में, 'यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्' यानी उद्देश्य के अनुसार परिभाषा करने का निर्देश अथवा विवरण।[68] यदि हम 'अदेश ओदेश' को एक साथ देखें तो अर्थ बन जाता है अनुपयुक्त स्थान पर रहने का निर्देश, अथवा जिसका निर्देश करना उचित न हो उसका निर्देश। यह विवेचना हमें सटीक प्रतीत होती है क्योंकि यदि 'आदेश ओदेश' को ग्रहण करें तो अर्थ बन जाता है 'आदेश का निर्देश' या, कदाचित् 'आज्ञा पालन की परिभाषा'। यह अर्थ बहुत संतोषजनक नहीं लगता।

68 देखें https://www.sanskritdictionary.com/?iencoding=deva&q=%E0%A4%93%E0%A4%A6%E0%A5%87%E0%A4%B6&lang=sans&action=Search।

maĩ anīha advaita buddhi maĩ parama vicārā;
nirālamba nispreha aga jaga rahita parakārā.
nahĩ āvõ nahĩ jāũ marõ jīvõ nahĩ kabahũ̃;
trigunādika miṭi jāhĩ amara maĩ gāvõ tabahũ̃.
maĩ adeśa odeśa hiye ajapā japa jāpiyõ;
Rāmakinā sataguru kṛpā Rāma nāma dṛṛha thāpivõ. **233.**

I am the desire-free non-dual intellect,
I, the Supreme thought;
Self-supported, detached from all creation,
I am without definition.[79]
I never come neither do I go,
nor do I ever die or am born;
When even the three attributes dissolve,
immortal, I sing my song.
I am the directive for living in inhospitable places,
I chant the silent mantra in my heart;
Kinaram says by the grace of the guru,
Ram's name I hold steadfast. **233**.

And finally, the Guru describes the God-like state of the *śūnya* or the state of nothingness achieved through deep meditation as: I am an intellect, a consciousness which is the highest of all thoughts and yet I am absolutely free of all desires. I am not supported in this state by anyone other than me, so I am self-supported, self-existent. I am not attached to anything, I am supremely stable, yet I am without any name or form, I am without any category distinctions. I do not come or go anywhere, nor am I ever born or die. At the dissolution of the universe, when even the three basic attributes and the five primary elements that constitute all things that exist disappear, I still remain eternal, absorbed in my internal tune. I am the directive principle on the basis of which I remain constantly engaged in letting the un-chanted mantra resonate within me at all the suitable and unsuitable places in the universe. Kinaram says, by the grace of his Guru, he holds the name of Rama (the Lord of the Universe) steadfast in his heart.

In the first part of the fifth line of this *chappaya* the words '*adeśa odeśa*' have been used. We are dwelling on these two words here because the word '*adeśa*' has been spelled differently in the various editions of the *Viveksār*. The editions from 1965 and 1975 have the spelling '*adeśa*', while in the later editions the spelling has been changed to '*ādeśa*'. This little change in the spelling makes a significant difference in the meaning. The meaning of the word '*adeśa*' is 'an inappropriate place, a bad country' etc. A word related to it is '*adeśya*' which means 'that which is not associated with the right place or opportunity' and 'that which is not proper to be explained' (see Das 1965-75, 162). The word '*ādeśa*' means 'a directive, injunction or mandate'. But, in Hindi dictionaries it is difficult to find the word '*odeśa*'. The *Sanskrit Dictionary* provides a very small description, implying the instructions for defining something in the context of its purpose or goal.[80] With this knowledge

79 As listed in the *Dictionary of Bhakti*, *aga-jaga* implies all animate and inanimate beings, all creation.

80 See `https://www.sanskritdictionary.com/?iencoding=deva&q=%E0%A4%93%E0%A4%A6%E0%A5%87%E0%A4%B6&lang=sans&action=Search`.

if we look at the words '*adeśa odeśa*' together, then the meaning turns out to be 'the instructions for living in an unsuitable place', or 'the instructions for explaining that which should not be explained'. This set of meaning appears right to us because if we accept the spelling '*ādeśa odeśa*', then the meaning comes out to be 'the instructions on the directive' or 'the definition of following the directive'. To us, this meaning does not appear to be very satisfactory.

8 रक्षा अंग

* गुरु वाक्य *

|| दोहा ||

सहजानंद सुबोध मय आतम रूप निहारि ।
कहत भये गुरु शिष्य सन रक्षा यत्न विचारि ॥234॥

सहज आनंद में निमग्न गुरु ने अपने आत्म रूप को देखा, और शिष्य से रक्षा की विधि के विषय में कहने लगे ॥ **234** ॥

हमने पहले देखा कि कैसे समाधि की अवस्था में गुरु और शिष्य दोनों एक हो गए। उन्होंने अपनी ही आत्मा का विराट ब्रह्म-स्वरूप देख लिया, उसके साथ एकात्म हो चुके। उसके निर्मल आनंद की अनुभूति को भी चख लिया। लेकिन गुरु अपने पूर्ण दायित्व के प्रति जागरूक हैं। वे अब शिष्य से एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कहने लगे, कि इस अवस्था की अनुभूति को कैसे स्थायी रखा जाय, कैसे उसकी सुरक्षा की जाय, कैसे उसमें निरंतर रमण किया जाय, नहीं तो इस अनुभूति को खो देना भी सम्भव है।

8 *Rakṣā aṅga*: On the Theme of Protection

The Guru Speaks

|| Dohā ||

sahajānanda subodha maya ātama rūpa nihāri;
kahata bhaye guru śiṣya sana rakṣā yatna vicāri. **234**.

Gazing at the easily experienced
spontaneous joy form of the Self;
The guru began to tell the disciple
of the diligence to protect this state. **234**.

The Guru (as also the disciple) have not just visualized but also experienced the cosmic form of the Self. They have understood its joy. And then the Guru addresses the disciple for a very important consideration – how to assiduously protect this state, cherish this experience, secure this state of being, for otherwise, it is possible to lose it.

आतम रक्षा चार विधि है शिष सहज सुबोध ।
दया विवेक विचार लहि संत संग आरोध ॥ 235॥

गुरु कहने लगे कि हे शिष्य, आत्मज्ञान की रक्षा के चार बहुत ही आसानी से समझे जानेवाले उपाय हैं। वे हैं, करुणा-भाव, सत्य ज्ञान, और सोच-समझकर कार्य करने की शक्ति के साथ संत जनों का संग करना ॥ **235** ॥

वे कहते हैं कि आत्मा की इस अनुभूति की रक्षा चार बहुत ही सरलता से समझ में आ जाने वाली विधियों से हो सकती है। वे हैं कि शिष्य अपने में पर-जीवों के लिये दया और करुणा का भाव रखे, संसार में व्यवहार करते समय विवेक का आश्रय ले, सभी के प्रति एक अच्छा विचार प्रतिपादित करे, और सदा संतों के संग का अनुगमन करे।

ātama rakṣā cāra vidhi hai śiṣa sahaja subōdha;
dayā vivēka vicāra lahi santa saṅga ārōdh. **235**.

There are four ways easy to understand
to protect the Self O disciple;
keep compassion, wisdom and reflection,
and the company of the saints. **235**.

He informs the disciple that there are four methods of protecting this state of the Self: kindness and compassion, wisdom and judgment, deep thought and knowledge, and very importantly, keeping the company of the realized saints and making every attempt to serve them.

|| चौपाई ||

दया दरद जो सहजेहि पावों । पर पीरा को संतत पावों ॥236॥
संग कुसंग जानि ठहरावै । सो विवेक श्रुति कहि अस गावै ॥237॥

सहज ही औरों के प्रति करुणा बनाए हुए पर-पीड़ा को अपने तक आने देना ॥ **236** ॥ अच्छी और बुरी संगति में अंतर जानना, और अपने अनुभव-जनित ज्ञान को शास्त्रोचित विधि से औरों के साथ बाँटना ॥ **237** ॥

शिष्य के लिये अब यह अत्यंत आवश्यक है कि वह दूसरों की पीड़ा को समझे। उनकी पीड़ा को समझकर फिर उनके प्रति एक करुणा का भाव रखे जो केवल भाव मात्र तक सीमित न हो, वह उस भाव को सक्रिय कर उन लोगों की पीड़ा का निवारण करने का उपक्रम भी करे। तभी उसने गुरु प्रसाद से जो इस अमूल्य ज्ञान की निधि अर्जित की है, उसका सदुपयोग हो सकेगा। उसके बाद, चूँकि ऐसी निधि प्राप्त हो जाने पर, दूसरों की सेवा करने से, लोगों की भीड़ चारों तरफ से जुटने लगती है, उसको बहुत ध्यान रखना होगा कि किस प्रकार की संगति में समय बिताये। अनुचित लोगों की संगति में समय बिताने से न केवल उसके आध्यात्मिक ज्ञान का ह्रास हो सकता है, ऐसा व्यवहार उसके गुरु के प्रति भी संदेह उत्पन्न कर सकता है। इसलिये उसके लिये उत्तम यही होगा कि जहाँ तक सम्भव हो वह संत जनों का ही संग करे। एक बार जब वह इस प्रकार के व्यवहार को अपने दैनंदिन जीवन में ढाल लेता है, तब उसे यह भी चाहिये कि अपने गुरु से प्राप्त ज्ञान, उस विद्या, को उचित व्यक्तियों के साथ बाँटे, सही संगति में उस ज्ञान की चर्चा करे। ऐसा ही करना शास्त्र-सम्मत भी बताया गया है, क्योंकि उनका भी ज्ञान ऐसा ही है।

|| caupāī ||

dayā darada jo sahajehi pāvõ; para pīrā ko santata pāvõ. **236.**
saṅga kusaṅga jāni ṭhaharāvai; so viveka śruti kahi asa gāvai. **237.**

let the pain of innate compassion flow in;
let the suffering of others come to you. **236**.
Judge good company from the bad;
Share your experience as the scriptures have said. **237**.

The first task that the disciple must undertake, as mentioned in the couplet above, is to cultivate a deep sense of compassion for others, so one can innately experience and relate to the pain that others feel. Then that seeker should be ever ready to take upon himself or herself the pain and afflictions of others, they should be willing to share this gift with them. Such a seeker has to be extra vigilant to not only recognize but also maintain good company (company of the saints), keeping clear of the company that is bad because it is not conducive to spiritual fulfillment. It can hinder their spiritual pursuits, or worse, it can create doubts about their Guru. Once the seeker can do all this, he or she should talk about the knowledge they have gained or heard from their Guru with others, thus commencing spiritual discussions that benefit others and reinforce their own state of the mystical experience.

संग गहै कुसंग बिसरावै । यह विचार गहि लेइ सो पावै ॥238॥
अब सतसंग जानि उर गहहू । राम नाम रसना उच्चरहू ॥239॥

अच्छे संग को बनाए रखना, बुरे संग से दूर रहना, जो ऐसा आचरण अपनाता है वह बहुत कुछ पा जाता है ॥ **238** ॥ अब यह ध्यान रखो कि सत्संग क्या है, वह राम के नाम को जिह्वा से रटकर उनका साथ बनाए रखना है ॥ **239** ॥

जो शिष्य निरंतर सत्य संग को बनाए रखता है, और साथ ही साथ कुसंग से दूर हो जाता है, बल्कि उसे अपने पास फटकने तक नहीं देता, ऐसा शिष्य न केवल उस ज्ञान को पाता है जैसा कि ऊपर के अनुभव में बताया गया है, अपितु, वही सही अर्थ में उस ज्ञान को पाने का अधिकारी भी होता है। लेकिन सत्संग क्या होता है, यह अनुभव से ही जाना जाता है। एक बार यह विदित हो गया, तो फिर हृदय उसे स्वयं ही पहचान लेता है, और साधक को चाहिये कि वह इस उपलब्धि को अच्छी तरह हृदय में पिरो कर रखे। जब ऐसा हो जाता है तब फिर अपनी जिह्वा से बिना रोक-टोक के राम का नाम, यानी उस परम सत्ता का नाम, या वह मंत्र जो गुरु ने दिया है, उच्चारण करते रहना चाहिये।

saṅga gahai kusaṅga bisarāvai; yaha vicāra gahi lei so pāvai. **238**.
aba satasaṅga jāni ura gahahū; Rāma nāma rasanā uccarahū. **239**.

Those who keep good company and forget the bad;
holding this practice they achieve success. **238**.
Now take the meaning of good company to heart;
with your tongue chant the name of Ram. **239**.

A disciple who is thus able to keep good company without ever being swayed by the bad, finds this exalted state which has been described in the cosmic experience of the Self above. Keeping the company of the saints is a laudable social act of spiritual sharing, but there is another, more subtle form of good company. That subtle form is constantly keeping the memory of the name of Ram. Ram, who is the anthropomorphic name of the creator of the universe, the True Being. So, the disciple should never forget the name of Ram, and they should always strive to pronounce or chant this name even as they go about performing their daily activities.

धीरज सहज संतोष अमानी । छोभ रहित दृढ़ आतमज्ञानी ॥240॥
क्षमा शील रत अनघ उदासी । अनआसा आसा निशि नासी ॥241॥

वह अविचलित आत्मज्ञानी जो धैर्य, संतोष, मान-बड़ाई से परे, उद्वेग से विरत है ॥ **240** ॥ क्षमावान्, सदाचार में लगा हुआ, निष्पाप, और विरक्त है, वह आशापूर्ण और आशाविहीन, दोनों ही तरह की रात्रियों का उन्मूलन कर देता है ॥ **241** ॥

ऐसे शिष्य असीम धैर्य के स्वामी होते हैं। उनमें संतोष का सागर स्वत: बहता रहता है क्योंकि उन्हें संसार की किसी वस्तु के प्रति न आकर्षण होता है, न इच्छा। वे एक ऐसे जीवन का निर्वाह करते हैं जहाँ मान-और प्रतिष्ठा की भावना का नाम तक नहीं होता है, उन्हें किसी अन्य से मान, बड़ाई और स्तुति पाने में कोई रुचि नहीं होती। वे संसार में अमानी बनकर जीना ही पसंद करते हैं। केवल अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठ होने के कारण उनमें किसी प्रकार का मानसिक असंतुलन, या ग्लानि भाव, उत्पन्न तक नहीं होता। वे दृढ़ता से गुरु द्वारा पाये गये ज्ञान का अवलम्बन रखते हैं और आत्म की अनुभूति के आनंद में विभोर रहते हैं। ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला मनुष्य सहजता से क्षमाशील बन जाता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष देख सकता है कि वे मनुष्य जो अपने सीमित इंद्रिय-ज्ञान से संसार में विचरते हैं, उनके लिये जीवन में भूल कर जाना, जिसे कई बार पाप की भी संज्ञा दे दी जाती है, बहुत सरल है। इस प्रकार के शुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध शिष्य जिनको आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त है, मन, वचन और कर्म से जीवन में भूल नहीं करते। वे जगत के आकर्षणों के प्रति उदासीन रहते हैं, जगत में रहते हुए भी कीचड़ में कमल की तरह उससे अलग रहते हैं। इस कारण से जिस प्रकार के वैचारिक, भावनात्मक, वित्तीय, संस्कारगत झंझावात आम व्यक्तियों को उद्वेलित करते हैं, वैसा इन प्रबुद्ध व्यक्तियों के साथ न केवल नहीं होता है, बल्कि वे आशा और निराशा के इन उतार चढ़ाव वाले कष्ट को नष्ट कर देने में निपुण हो जाते हैं।

dhīraja sahaja santoṣa amānī; chobha rahita dṛṛha ātamagyānī. **240**.
kṣamā śīla rata anagha udāsī; ana-āsā āsā niśi nāsī. **241**.

Patient, naturally content, without pride;
free from agitation, firm in Self-insight. **240**.
Forgiving, virtuous, pure, dispassionate;
they annihilate the night of hope and non-hope. **241**.

Such disciples have infinite patience. They are also supremely content within themselves because they do not run after any worldly attraction. They prefer to live a life that has no trace of egotistic pride in it, they do not seek to have prestige and honor from others. They are mentally stable, not given to sudden and extreme mood swings, and they are steadfast holders of the knowledge and wisdom gained by the experience of the Self. They are also forgiving in nature, because they know without the kind of cosmic spiritual experience that they have had, other human beings act out of their limited perception of the world, and so, are naturally prone to making mistakes. Thus, those disciples who are pure because they do not commit errors of action or thought (often known as sins) are disposed to be detached from the world. They are skilled at destroying the dark dilemmas that beset other human beings as they are pushed and pulled and thrown upon the crests of waves of hope and despair in their lives.

कपट कोटि कह जानि नसावै । निर्भय प्रेम में रमि रमि धावै ॥242॥
लाभ हानि नहिं उर कछु धरई । अनुभव प्रगटि निरंतर भरई ॥243॥

ऐसे आत्मज्ञानी छल और दंभ को छिपाते नहीं, प्रकट कर देते हैं, वे निर्भयता के प्रेम का आलिंगन कर निष्कंटक मग्न हो विचरते हैं ॥ **242** ॥ उनके मन में फिर लाभ या हानि जैसी कोई वस्तु उद्भासित नहीं होती, बल्कि उनका अनुभव उन्हें इतना परिपूर्ण रखता है कि वे उसे अन्य जनों के साथ सहर्ष बाँटते रहते हैं ॥ **243** ॥

ऐसे शिष्य जगत के कपट से भी अनभिज्ञ नहीं होते। उनमें जो नीर-क्षीर विवेक की प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है उससे वे कपट कर्म को न केवल पहचान लेते हैं, बल्कि उसका उद्घाटन कर औरों को उससे संतप्त हो जाने से भी बचा लेते हैं, उसके प्रभाव को नष्ट कर देते हैं। अपने ही अभ्यंतर में आत्मसाक्षात्कार से उत्पन्न हुए जगत की जो वास्तविक छवि वे देखते हैं उसके कारण सदा पूर्णतया निर्भीक और नि:शंक रहते हैं। जगत का सत्य जानने के कारण उसके प्रति उनका जो प्रेम होता है वह सतही नहीं होता, बहुत ही प्रगाढ़ होता है, बहुत ही मधुर होता है, बहुत ही गहरा होता है। चूँकि समस्त जगत ही उनकी आत्मा में भासता है, उसमें होने वाली घटनाओं से उनको न हानि का भय होता है न लाभ की आशा। इसलिये वे जगत-व्यवहार से हानि-लाभ की आशा भी नहीं रखते। उनका अनुभव एक ऐसा परिपूर्ण कर देनेवाला अनुभव होता है जिससे वे सदा भरे-भरे रहते हैं। उसमें जो सत्य झलकता है वह उन्हें सर्वदा विदित रहता है। उसके फलों को वे नि:संकोच जितना औरों के साथ बाँटते हैं उतना ही और वे परिपूर्ण होते जाते हैं।

kapaṭa koṭi kaha jāni nasāvai; nirbhaya prema mẽ rami rami dhāvai. **242**.
lābha hāni nahĩ ura kachu dharaī; anubhava pragaṭi nirantara bharaī.
243.

They destroy a million deceits with wisdom lore;
constant fearless focus on love makes them go. **242**.
Their heart does not hold on to profit or loss;
sharing constantly refills their spiritual experiences. **243**.

Such a disciple can see like a fruit in the palm of their hand the million tricks that the world plays on a person. They are not fooled by them at all. In fact, they do not even hide it, they reveal it to all and in this process, they destroy such tricks or the effects that they have on unsuspecting people. They are absolutely fearless, immersed as they are in love for the world which is reflected in their own Self. Since the whole world is a part of their consciousness, they do not have a sense of profit or loss from events that happen in the world. Therefore, they never take to heart even the idea of personal profit or loss from dealings in the world. Theirs is an experience that fills them constantly. It is an experienced truth, it is right before them, and much as they share its fruits with others, they always remain full.

समता शांति उदय नव नेहा । सतगुरु बचन सार सोइ गेहा ॥244॥
शत्रु मित्र लै रहै अकेला । निज पराय परिहरि जग खेला ॥245॥

वे, जो गुरु की वाणी से सीखे ज्ञान को हृदयस्थ कर उसी में रमण करते हैं, उनमें औरों के प्रति समवर्तिता, शांति और नित्य प्रेम का एक नवोत्कर्ष होता रहता है ॥ **244** ॥ उनके लिये न कोई शत्रु होता है, न मित्र, वे अपने और पराये की भावना से विरत हो जग में क्रीड़ा के समान जीवनयापन करते हैं ॥ **245** ॥

ऐसे पूर्ण व्यक्ति का सांसारिक दृष्टिकोण क्या हो सकता है? जब सबमें उनको अपनी ही छवि दिख रही हो, और सब की छवि में उस परम सत्ता की छवि दिख रही हो, तो यह सहज ही है कि उनकी दृष्टि में सब एक समान हो जाते हैं। सभी उस ब्रह्म से उत्पन्न हैं, सभी उस एक ब्रह्म की संतान हैं। इसलिये समदृष्टि और सम-वर्तिता उनका गुण बन जाता है। सब एक होने से किसी प्रकार का न द्वन्द्व होता है न ऊहा-पोह। उसी तरह जैसे कि व्यक्ति को अपनी वस्तुओं से लगाव होता है, इस प्रकार के प्रबुद्ध व्यक्तियों के हृदय में समस्त संसार के लिये शाश्वत प्रेम के ही उद्गार लहर लेते रहते हैं। उनकी जीवनचर्या गुरु के वचनों का पालन, और गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान का जन-कल्याण के लिये उपयोग, बन जाता है। एक तरह से वही उनका यथार्थ निवास-स्थान हो जाता है – गुरु के वचनों का आश्रय। उनके लिये सब समान होने के कारण संसार में अब न कोई शत्रु रह जाता है, न मित्र। वे सब के साथ रहते हुए भी अब अकेले रहते हैं, भले ही देखने में लगे कि वे लोगों से घिरे हुए हैं। गुरु-ज्ञान के आनंद में विभोर, निज और पराये के भाव से दूर, संसार में सबके साथ बिना भेद-भाव के क्रीड़ावत जीवनयापन करते रहते हैं।

samatā śānti udaya nava nehā; satguru bacana sāra soi gehā. **244**.
śatru mitra lai rahai akela; nija parāya parihari jaga khelā. **245**.

Those who treat the guru's teachings as their home,
Equal vision, peace, and new affection rises constantly in them; **244**.
They live alike with friend and foe, yet alone;
They play with the world with no feeling of stranger and own. **245**.

In such a seeker arise many kinds of virtues. In their behavior they treat everyone with equality because all are a part of that one grand source. Since all is one, nothing is apart from them in this cosmic connection. Consequently, there is no need for strife, and so peace prevails. They become extremely peaceful. Just as one has great care and affection for one's own body or things people consider their own, the experience of a cosmic Self makes everything their own, and so for each part of the creation, new love arises in them. They become very loving. They then dwell constantly practicing and living the essence of the knowledge imparted to them by their Guru. That becomes their real abode. Thus, they live alone with the joy of that teaching animating their life, even though they may be surrounded constantly with well-wishers or otherwise, familiar folks, strangers, known persons as well as unknown. In this way they play with the world in their life without any thought or discrimination of who might be their own, and who not. They behave with equableness and equanimity with everyone.

सब भूतन पर करै अनुग्रह । संत संग यह शिष्य सुअग्रह ॥246॥
यह मत गहि जित तित ठहरावै । जातें बहुरि नाश नहिं पावै ॥247॥

वे सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा का व्यवहार अपनाते हैं, संतों के साथ ऐसे अगेही शिष्य सत्संग करते रहते हैं ॥ **246** ॥ इस सिद्धांत को जानकर वे जहाँ भी रहते हैं, उनका कभी नाश नहीं होता है ॥ **247** ॥

इस प्रकार का असीम करुणामय जीवन अनायास ही उनके समीप आने वालों को उनकी कृपा का पात्र बना देता है। चाहे वे कोई भी हों, किसी भी प्रकार के जीव हों, उनके निकट जाने पर उनसे निःसृत स्पंदन ही स्वयं कल्याणकारी हो जाता है। अपने गुरु के बताए हुए मार्ग पर चलते हुए वे सत्संग करते हुए निष्कम्प जीवन जीते हैं। वे जहाँ चाहते हैं वहाँ रहते हैं, इसमें उनके लिये कोई ग्राह्य या अग्राह्य का भाव नहीं होता है। इस प्रकार का प्रेम और करुणामय जीवन जीते हुए वे जहाँ भी रहते हैं और अपने अभ्यास में लगे रहते हैं, वहाँ उनके व्यवहार से यह सुनिश्चित हो जाता है कि न उनका नाश होगा, न इस ज्ञान और व्यवहार का।

इस चौपाई के दूसरे चरण का अंतिम शब्द 'सुअग्रह' एक बहुप्रचलित शब्द नहीं है। इसमें उपसर्ग 'सु' का अर्थ 'अच्छा' होता है। फिर हिंदी शब्दसागर के अनुसार 'अग्रह' के अर्थों में गार्हस्थ्य को न धारण करने वाला पुरुष, वानप्रस्थ, एवं गृहशून्य या गृहहीन व्यक्ति होता है। तो यदि हम 'सुअग्रह' का अर्थ गृहशून्यता और सन्यासी जीवन मान लें, तो इसका बाबा कीनाराम के आशय से मेल हो जाता है, कि हे गृहशून्य भ्रमणशील साधु, तुम संत जनों का संग करते रहो।।

saba bhūtana para karai anugraha; santa saṅga yaha śiṣya suagraha. **246.**
yaha mata gahi jita tita thaharāvai; jātẽ bahuri nāśa nahĩ pāvai. **247.**

They show kindness to all beings;
keeping company of saints, O wandering disciple. **246.**
Everywhere they practice holding this view;
ruin will never find them again. **247.**

They have unfathomable compassion for everything that exists in the creation, for nothing is apart from them. As taught by their Guru, they seek and keep the company of saintly people. Practicing socially this ideal of equal behavior and compassion towards all they live and practice wherever they wish to. Their ideal life assures the creation that they, and such loving behavior of theirs, will never come to an end.

The word *suagraha* in this *caupāī* is not a very common one. The prefix '*su*' implies good. Monier-Williams lists *agraha* as non-acceptance, a houseless man ie. a *Vānaprastha*, a Brāhman of the third kind. *Dictionary of Bhakti* also has the word *agreha*, implying homeless. If we accept *suagraha* to mean homelessness, then *yaha śiṣya suagraha* could imply 'this wandering disciple', or in the context of the whole phrase, 'keep the company of saints O good wandering disciple'.

|| दोहा ||

आपु माहँ सब देखिया सब मों आपु समाय ।
पालै एक प्रतीत कहँ दुरमति दूरि बहाय ॥248॥

ऐसे व्यक्तियों के चित्त में सभी प्राणी झलकते हैं, और सभी में वे अपनी ही छवि देखते हैं। वे सभी की देखभाल उस एक अनश्वर के प्रतिबिम्ब के रुप में ही करते हैं, और सभी प्रकार की दुर्बुद्धि को दूर बहा देते हैं ॥ **248** ॥

ऐसा व्यक्ति, जिसकी चेतना अब पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, यही पाता है कि जो कुछ भी है वह उसी की चेतना का अभिन्न अंग है – सब उसी में है और वह सब में है। ऐसी अवस्था में, माता, पिता या समर्थ गुरु के प्रेम सरीखे, वह सभी का पालन-पोषण बहुत ध्यान से, उनके उत्थान के लिये, अपना मान कर करता है। ऐसा करने में वे अपने निकट आए हुए व्यक्तियों की अविद्या-जनित, इंद्रियों द्वारा संकुचित और आवेष्टित बुद्धि, कटुता, दुर्बुद्धि, इन सभी को साफ करके दूर कर देते हैं। जैसे पारस जिस भी वस्तु को छूता है उसे सोना बना देता है, उसी प्रकार ऐसा व्यक्ति दूसरों के उत्कर्ष के लिये सक्रिय रहता है।

यह सर्वव्यापी चेतना की सीख देकर गुरु कुछ और भी कहते हैं। वे अहं-भाव को दूर करने के लिये जीवन में प्रतिदिन होनेवाले विविध क्रिया-कलापों का उद्धरण देकर बताते हैं कि व्यक्ति यह सोच सकता है कि वह किसी कर्म का प्रणेता है, किंतु सत्य उससे भिन्न भी हो सकता है। इन पंक्तियों को पढ़ने पर एक अनबूझ पहेली के जैसा लगता है, जैसा कि जापान की 'कोआन' पहेलियों में होता है। यह संतों की सांध्यभाषा का एक उदाहरण है जहाँ पहेलियों के माध्यम से वे किसी बात को समझाना चाहते हैं। विवेकसार में यही एक प्रसंग है जहाँ बाबा कीनाराम इस प्रकार की युक्ति का प्रयोग करते हैं। अहं-भाव तिरोहित करने के लिये, और उस ईश्वरीय सत्ता की सर्वव्यापकता प्रकट करने के लिये, वे इन निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से उसी सत्ता का हर कार्य में मूल कारण होना बताते हैं।

|| Dohā ||

āpu māhã saba dekhiyā saba mõ āpu samaya;
pālai eka pratīti kahã durmati dūri bahāya. **248.**

They see everything in their own Self,
in all, their Self's presence;
they care for all verily as one;
they wash away all wickedness. **248**.

Such a person, who now has a consciousness that encompasses all of creation, sees all that exists within their own Self. As a flip side of the coin, they also perceive their own presence in all that exists in creation. And so, like a loving mother or doting father, or a very careful Guru, they nourish and take care of all as if they are all but one, and all are their own. In this way they cleanse the seekers of all their false notions and ill-will that arises by only a partial understanding of the universe.

With this lesson well imparted, the Guru continues to relate several statements about commonplace stuff in the world. On reading them they seem like riddles, something like *koans* in the Japanese tradition, or even puzzling statements related in the twilight-language mode of the saints. In *Viveksār*, this is the only place where Baba Kinaram uses this mode of communication. Its purpose seems to be to inculcate a sense of selflessness in the seeker by negating all that the ego thinks is a fruit of its action and effort. In effect, all the stanzas in this section give credit for that which happens in the world to God, or that unseen power, which is present in everything, yet it remains imperceptible.

|| चौपाई ||[69]

जिन्ह गाया तिन्ह गाया नाहीं । अनगाया सो गाये माहीं ॥249॥[70]
जिन्ह जाना तिन्ह जाना नाहीं । अनजाना सो जानेहि माहीं ॥250॥

जिन्होंने गाया, उन्होंने नहीं गाया; जो गाने में नहीं आया उसने ही गाया ॥ **249** ॥ जिन्होंने जाना, उन्होंने नहीं जाना; जो अनजाना रहा, उसी ने जाना ॥ **250** ॥

गाना कितना सहज होता है। कोई व्यक्ति सोच सकता है कि वह गाना गा रहा है या कुछ गुनगुना रहा है। किंतु सच्चाई तो यह होती है कि कुछ और, या कोई और, उनको माध्यम बना कर गीत को उनमें से प्रसारित करता है। इस दृष्टि से वे उस गीत के वाद्य हुए, गायक नहीं। वह अदृश्य गायक ही वह सत्ता है जिसे भगवान या ईश्वर कहा जाता है। उसी तरह कोई यह सोच सकता है कि वह कुछ जानता है। लेकिन सत्य यह होता है कि वही अज्ञात सत्ता उनको माध्यम बना कर उस जानकारी को, या उस समझ को, प्रकाशित करती है।

69 तु. दास 2000, 48: 38.2, "कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ। जे किया कुछ होत है, तौ करता औरै कोइ।"

70 तु. द्विवेदी 1960, 90: पाद टिप्पणी, "गाँवणहारा कदैं न गावै अणबोल्या नित गावै। नटवर पेखि पेखतां, पेखै अनहद बैन बजावै।"

caupāī[81]

jinha gāyā tinha gāyā nāhĩ̃; anagāyā so gāye māhĩ̃.[82] **249**.
jinha jānā tinha jānā nāhĩ̃; anajānā so jānehi māhĩ̃. **250**.

Those who sang, sang not;
'Unsung' was the one in the song. **249**.
Those who knew, knew not;
'Unknown' was the one in the know. **250**.

A person may think that they are the ones singing. In reality, though, they are not the one who sings. Someone, or something else sings through them, making them the instrument of the song. That imperceptible entity is what we call God. So also, someone may think that they know something. But in reality, they are the instrument used by that imperceptible power to make that information or understanding known.

81 Comparable to Das 2000, 38: 38.2, *Samrathāī kau aṅga* no. 2, "*Kabīr kiyā kachu na hota hai, anakīyā saba hoi; je kiyā kachu hota hai, tau karatā aure koi*" (nothing happens because we do it, it happens because that 'non-doer' does it. If something happens with our effort, it is also only as an instrument of that 'unknown').

82 Comparable to Dwivedi 1960, 90 fn, "*gā̃vaṇahārā kadaĕ na gāvai aṇabolyā nit gāvai…*" (the one who sings, never really sings, the one who does not say a word is the one who sings…).

जिन्ह बूझा तिन्ह बूझा नाहीं । अनबूझा सो बूझेहि माहीं ॥251॥
जिन्ह देखा तिन देखा नाहीं । अनदेखा सो देखे माहीं ॥252॥

जिन्होंने सोचा कि उन्होंने ताड़ लिया, उनकी बुद्धि में आभासित हो गया, वे नहीं जान पाए; वह जो समझ की परिधि से भी परे था, उसी ने बूझा ॥ **251** ॥ जिन्होंने देखा, उन्होंने नहीं देखा; दृष्टि में जो लक्षित ही नहीं हुआ, उसी ने देखा ॥ **252** ॥

किसी बात को बूझ लेना सदा सरल नहीं होता। बूझ लिये तो पौ बारह! तो कोई सोच सकता है कि किसी बात को, पहेली या प्रहेलिका सरीखी समस्या को लाल बुझक्कड़ की तरह बूझकर उन्होंने तीर मार लिया है। किंतु वास्तविकता यह होती है कि वह, जो सब की समझ-बूझ से परे है, उस बूझ को उन तक पहुँचाता है। उसी तरह से, कुछ देखकर व्यक्ति सोच सकता है कि मैंने यह देखा। लेकिन जो कुछ भी उसने देखा, उस दृष्टि में और उस दृश्य में भी तो कोई और सत्ता विद्यमान थी, जो बिल्कुल भी दृश्यमान नहीं थी।

jinha būjhā tinha būjhā nāhĩ; anabūjhā so būjhehi māhĩ. **251.**
jinha dekhā tinha dekhā nāhĩ. anadekhā so dekhe māhĩ. **252.**

Those who perceived, perceived not;
'Unperceived' was the one in the perception. **251**.
Those who looked, looked not;
'Unseen' was the one in the look. **252**.

A person may think they have figured out a complex problem or situation. But do they really know it? In reality it is the unseen faculty of understanding powered by the ever-present life-force and consciousness that really understands it. So also, someone who sees something may not be the real observer. The real observer is the imperceptible consciousness resident within them.

जिन्ह लेखा तिन्ह लेखा नाहीं । अनलेखा सो लेखेहि माहीं ॥253॥
जिन्ह समुझा तिन्ह समुझा नाहीं । अनसमुझा सो समुझे माहीं ॥254॥

जिन्होंने लिखा, वे लिखने वाले नहीं थे; जो लिखने में आया ही नहीं, उसी ने लिखा ॥ **253** ॥ जिन्होंने समझा, उन्होंने नहीं समझा; जो समझ में नहीं आता, उसी ने समझा ॥ **254** ॥

किसी बात का वर्णन करना कठिन नहीं। या वर्णन करने वाले की क्षमता के अनुसार कठिन हो भी सकता है। और वर्णन करने वाला सोच सकता है कि मैंने वर्णन किया। लेकिन वह, जो अवर्णनीय है, उसकी सत्ता वर्णन की प्रतिभा में छिपी होती है। ठीक उसी प्रकार समझ भी होती है। कोई कुछ अधिक समझता है, कोई कुछ कम। लेकिन जितना भी समझता है, वह उसी 'अनसमझी' सत्ता का परिणाम है, और उसी की समझ सभी की समझ से परे होती है।

jinha lekhā tinha lekhā nāhĩ; analekhā so lekhehi māhĩ. **253**.
jinha samujhā tinha samujhā nāhĩ; anasamujhā so samujhe māhĩ. **254**.

Those who gave an account, accounted not;
the 'Unaccounted' was the one in the account. **253**.
Those who comprehended, comprehended not;
'Uncomprehended' was the one to comprehend. **254**.

A person may give a detailed account of something perceived by the senses. They may even think they can describe God. But it is a task that is not possible to achieve either through the mind or the physical senses. It is that imperceptible consciousness that is at the basis of all accounts, and its own account, only it can provide. Similar is the case with comprehension or understanding. A person may think they have understood something, but it is the faculty of understanding, powered by that consciousness which is not comprehended, that really understands.

जिन्ह सुनिया सो सुनिया नाहीं । अनसुनिया सो सुनिया माहीं ॥255॥
जिन्ह बोला तिन्ह बोला नाहीं । अनबोला सो बोले माहीं ॥256॥

जिन्होंने सुना, उन्होंने नहीं सुना; जो अनसुना रहा, उसने सुना ॥ **255** ॥ जो बोले, वे नहीं बोले; जो बोल और बोली से परे था, वही बोला ॥ **256** ॥

श्रवण-शक्ति के बिना इस संसार का अनुभव कैसा होगा? सुनने में तो कुछ विशेष प्रयास भी नहीं करना पड़ता है। किसी बात तो सुनकर यह मान लेना कि हमने यह सुन लिया एक बात है। लेकिन सत्य तो यह है कि जो सुनने की क्षमता है, और जिसका श्रवण-द्वार से संचार हुआ है, इन दोनों में वही शक्ति संचरित है जो कभी सुनी ही नहीं जाती है। उसी तरह से वाक्-शक्ति है। कुछ बोलकर मान लेना कि हम बोले, यह एक बात है। लेकिन वह वही 'अनबोला' था जिसने कुछ भी नहीं कहा, लेकिन सारे शब्द उसी के थे। वही चेतना सुन भी रही थी और बोल भी।

jinha suniyā so suniyā nāhĩ; anasuniyā so suniyā māhĩ. **255.**
jinha bolā tinha bolā nāhĩ; anabolā so bole māhĩ. **256.**

Those who heard, heard not;
'Unheard' was the One in the ear. **255**.
Those who spoke, spoke not;
'Unspoken' was the One in the speech. **256**.

A person might hear something and either believe it, or enjoy it, confident that they are the ones who have heard it. But without the faculty of hearing, activated by the life force and connected to the faculty of consciousness, they will not be able to hear anything. In effect, they are not the ones who hear anything. It is the imperceptible one who is behind all hearing. Similarly, a person may think that they are the ones to speak. But behind every act of speech is that unperceived reality which provides them with the faculty of speech. In reality, it is that consciousness that speaks.

जिन्ह गुनिया तिन्ह गुनिया नाहीं । अनगुनिया सो गुनिया माहीं ॥257॥
जिन्ह पाया तिन्ह पाया नाहीं । अनपाया सो पाया माहीं ॥258॥

जिन्होंने गुना, उन्होंने नहीं गुना; जो गुनने में आया ही नहीं, उसी ने गुना ॥ **257** ॥ जिन्होंने पाया, उन्होंने नहीं पाया; जो पाया न गया, उसी ने पाया ॥ **258** ॥

गुनना, मतलब मनन करना, विचार करना। कुछ सुनकर, देखकर, पढ़कर हम उसके विषय में मनन कर सकते हैं। और यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमने कुछ गुना। लेकिन हर ऐसे कृत्य के पीछे तो वह 'अनगुनिया' होता है जो विचार और मनन से कहीं बहुत परे है, लेकिन जिसके बिना गुनने की क्रिया हो ही नहीं सकती। उसी तरह कुछ पा लेना कठिन नहीं। पाने पर मन में विचार उठ सकता है कि हमने कुछ पाया। हो सकता है कि हम पाने के निमित्त रहे हों, लेकिन उन 'अनपाये' के बिना कुछ भी पाना सम्भव नहीं। और चूँकि वह अन-पाया हम सभी में है, जो कुछ भी पाया, उसी ने पाया।

jinha guniyā tinha guniyā nāhĩ; anaguniyā so guniyā māhĩ. **257.**
jinha pāyā tinha pāyā nāhĩ; anapāyā so pāyā māhĩ. **258.**

Those who contemplated, contemplated not;
'Uncontemplated' was the One in the thought. **257.**
Those who found, found not;
'Unfound' was the One to find. **258.**

A person may think and contemplate a million different things. They may also have the feeling that they have contemplated upon those things. In reality, though, is it really them who is contemplating? It is actually that imperceptible consciousness that does all the contemplation and reflection. Similarly, a person might think that they have found something, or that they have hit upon the comprehension of a convoluted problem. But are they really the ones who comprehend it. In reality it is that unperceived consciousness that comprehends it by providing the faculty or the tool of comprehension.

जिन्ह चाखा तिन्ह चाखा नाहीं । अनचाखा सो चाखे माहीं ॥259॥
जिन्ह धाया तिन्ह धाया नाहीं । अनधाया सो धायेहि माहीं ॥260॥

जिन्होंने चखा, उन्होंने नहीं चखा; जो चखने से परे था, उसी ने चखा ॥ **259** ॥ जो दौड़े, वे नहीं दौड़े; जो दौड़ में नहीं था वही दौड़ा ॥ **260** ॥

किसी भोज्य पदार्थ के स्वाद की केवल कल्पना नहीं की जा सकती, उसे तो चखना पड़ता है। चखने पर हम कह सकते हैं कि हाँ, इसका स्वाद ऐसा है और ऐसा है। किंतु क्या चखने वाले हम होते हैं? क्या स्वाद की अभिव्यंजना केवल खाद्य पदार्थ में ही छिपी होती है? इन दोनों के पीछे वही 'अनचखा' स्वाद है जो बिना चखे सब कुछ में स्वाद रूप में रहता है। उसी प्रकार कोई दौड़ने वाला सोच सकता है कि वह दौड़ा। लेकिन असल में वह तो केवल दौड़ का निमित्त था जिसकी अभिवयक्ति उन अज्ञात 'अनधाये' ने उनके माध्यम से की।

jinha cākhā tinha cākhā nāhĩ; anacākhā so cākhe māhĩ. **259**.
jinha dhāyā tinha dhāyā nāhĩ; anadhāyā so dhāyehi māhĩ. **260**.

Those who tasted, tasted not;
'Untasted' was the One in the taste. **259**.
Those who ran, ran not;
'Un-run' was the One in the run. **260**.

A person might think that they have tasted something and that they know what it tastes like. But is it really them that tastes it? It is the faculty of taste activated by the life force and perceived by the imperceptible consciousness that actually tastes it and knows the taste. Similarly, a person may think that they have run a certain distance. But in reality, it is not them that runs at all. They are simply an instrument for that unperceived consciousness to perform the act of running through them.

जो बैठा सो बैठा नाहीं । अनबैठा सो बैठे माहीं ॥261॥
जो भीना सो भीना नाहीं । अनभीना सो भीनेहि माहीं ॥262॥

जो बैठे, वे नहीं बैठे; जो बैठने से परे रहा, वही बैठने में था; जो भीना था, वह भीना न था, जो भीनेपन से परे रहा, वही भीने में था ॥ **262** ॥

हम बैठे। कैसे बैठे, कहाँ बैठे, क्यों बैठे यह अलग बात है। लेकिन किसी कारण से हमें लगा कि हम बैठे। लेकिन कोई कारण बनाकर, या अकारण भी, हमें बैठानेवाला हम नहीं थे, हम केवल बैठने का माध्यम थे। बैठा तो वही, जो 'अनबैठा' है, क्योंकि उसके लिये बैठने या खड़े होने का कोई अर्थ नहीं है। उसी तरह 'भीना' विशेषण शब्द है जिसका अर्थ नमी भी हो सकता है और हल्की सुगंध या हल्की बयार इत्यादि भी। चाहे किसी खाने की वस्तु की सुगंध का भीनापन हो, या हवा अथवा वर्षा की नमी का भीनापन हो जो हममें एक प्रकार की तृष्णा या उत्साह उत्पन्न करता हो, वह अपने आप में वैसा नहीं है, हमारे शरीर और इंद्रियों के द्वारा उस प्रकार का संज्ञान लिये जाने का अनुभव है। अपने आप में तो बाहर वह केवल हवा है, और हवा में जल-कणों या पकने के वाष्प का मिश्रण। वैसा 'भीना-भीना' प्रतीत होना बुद्धि द्वारा उत्पादित है, क्योंकि वह, जो 'अन-भीना' है, जो सभी पदार्थों के चरित्र का निर्माता है, वही कई तत्वों के सम्मिश्रण से हमारी इंद्रियों और बुद्धि के भीतर भीनेपन का वातावरण उत्पन्न कर देता है।

jo baiṭhā so baiṭhā nāhĩ̃; anabaiṭhā so baiṭhe māhĩ̃. **261**.
jo bhīnā so bhīnā nāhĩ̃; anabhīnā so bhīnehi māhĩ̃. **262**.

Those who sat, sat not;
'Un-seated' was the One in the seat. **261**.
That which was savory, savory was not;
'Unsavored' was the One in the savor. **262**.

A person might think that they are seated at a certain place. But is it really them that sit there? In fact, it is the imperceptible consciousness, that sits there, within them, but they do not realize this. Similarly, something that tastes savory, or something like a light breeze or rain which is pleasing to the person who either imbibes it, or experiences it, does not itself have the flavor or enjoyment within it. It is an experience generated through the medium of the senses and the intervention of the mind to perceive a smell or a breeze in a particular way. Outside of the body it is just air mixed with either humidity or vapor from something that is being cooked, or a fragrance released by a flower. The imperceptible consciousness is the generator of the savor and the flavor in any particular thing that can be conceived of, and the same power, within our bodies, creates that particular kind of sensation.

9 फल स्तुति

|| दोहा ||

अति अगाध अतिसय अगम व्यापक सर्व समान ।
बिनु गुरु कृपा न कोउ लहै रामकिना निरबान ॥263॥

वह सत्ता जो सर्वत्र व्याप्त है, उसकी गहराई की थाह पाना मुश्किल है, उस तक पहुँचने का मार्ग भी बहुत दुर्गम है, लेकिन फिर भी वह हर जगह समान रूप से विद्यमान है। बाबा कीनाराम कहते हैं कि जब तक गुरु की कृपा न हो जाए, कोई भी निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता ॥ **263** ॥

विवेकसार के इस अंतिम अंग, "फल-स्तुति" में बाबा कीनाराम अपनी कृति को समापन की ओर ले चलते हैं। पुनः, वे गुरु और उस परम सत्ता के अभिवादन से आरम्भ करते हैं। वे कहते हैं वह, जो संसार की रचनात्मक सत्ता है, जो हर स्थान, हर वस्तु, हर तत्त्व में समान रूप से उपस्थित है, वह इतनी गहरी है कि उसकी थाह नहीं ली जा सकती। साथ ही उसकी व्यापकता का विस्तार इतना वृहद है कि उसका कोई ओर-छोर नहीं है। इसीलिए उसके ज्ञान को प्राप्त कर पाना, जिसे निर्वाण या मुक्ति की भी संज्ञा दी जाती है, बिना सतगुरु की कृपा के एक असम्भव कार्य है।

9 *Phala Stuti*: In Appreciation the Benefits of the Fruit

|| Dohā ||

ati agādha atisaya agama vyāpaka sarva samāna;
binu guru kṛpā na kou lahai Rāmakinā nirabāna. **263.**

Truly unfathomable, very hard to arrive at,
the omnipresent yet remains the same for all;
Without the guru's grace says Kinaram,
no one attains salvation at all. **263**.

In this last section of the text titled "*phal stuti*" or 'venerating the fruits of study', Baba Kinaram commences his conclusion of the text. He begins, again, by eulogizing both God and Guru: the imperceptible, True Being is so deep it is unfathomable. Its expanse is so vast that its ends cannot be reached. It is present everywhere in the same way for everything and everyone that exists in this creation. Kinaram says that a knowledge of such a being, called *nirvāṇa* or liberation, just cannot be achieved without the grace of a true guru.

बानी बहुत प्रकाश हित सिता राम समुदाय ।
यह रविसार विवेक लहि संशय निशा नसाय ॥264॥

राम और सीता के भक्त जनों में जीवन के विभिन्न अंगों में प्रकाश लाने के लिये बहुत से उपदेश हैं। किंतु यह विवेक का जाज्वल्यमान सूर्य (विवेकसार) तो शंकाओं की रात्रि का ही समूल नाश कर देता है ॥ **264** ॥

महाकाव्य रामायण के श्रीराम और माता सीता के भक्त-समुदाय में बहुत सी पुस्तकें, बहुत से ग्रंथ हैं जिनसे विभिन्न प्रकार के ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। उसी प्रकार यह ग्रंथ जो पाठक के हाथ में है, जिसका नाम विवेकसार है, इसका पारण करने से भी सभी संशयों की गहरी काली रात्रि का विनाश हो जाता है। ऐसा इसलिये है क्योंकि यह विवेक का सार मानो सूर्य की प्रकाशमय रश्मियों को एकत्रित कर पाठक के हृदय विवर को आलोकित कर देता है। इस पंक्ति में बाबा कीनाराम ने स्वयं विवेकसार की महत्ता पर प्रकाश डाला है।

इस दोहे में "सिता राम समुदाय", यानी श्रीराम और सीता के भक्तों के समूह का उल्लेख कुछ अर्थ रखता है। इसके पहले तक बाबा कीनाराम ने इस ग्रंथ में राम नाम का प्रयोग एक निर्गुण दृष्टि से किया है। अपने आप में, यह नाम उस सत्यपुरुष, उस विश्वव्यापी निरंजन देव का प्रतिनिधित्व करता है जो संत-साहित्य में जाना-पहचाना है। किंतु इस वर्तमान उद्धरण में यह नाम वैष्णव परम्परा में जाने-माने विष्णु के अवतार श्रीराम के रूप में है, जो अयोध्या नरेश दशरथ के अग्रज पुत्र हैं, राजकुमार हैं और अयोध्यावासी हैं। उसी प्रकार सीता माता लक्ष्मी का अवतार हैं, जनकनंदिनी हैं, राजकुमारी हैं, जनकपुरी की वासी हैं। यह अवश्य है कि छंद-शास्त्र के मात्रा विधान के अनुसार, बाबा कीनाराम ने माता सीता का नाम 'सिता' लिखा है, किंतु यह नाम सर्व ग्राह्य है। श्रीराम माता सीता के पति हैं, और दोनों रामायण महाकाव्य के नायक और नायिका हैं। यह उद्धरण इसलिये भी रोचक है क्योंकि विवेकसार को अघोर-अवधूत भावना का ग्रंथ माना जाता है जहाँ प्राय: भगवान शिव और उनकी शक्ति माता पार्वती की ही छवि की वंदना पायी जाती है। यहाँ बाबा कीनाराम का श्रीराम-सीता समुदाय का उल्लेख अपने वैष्णव गुरु, संत शिवाराम की ओर दृष्टिपात कर प्रणाम निवेदन करता दीख पड़ता है।

bānī bahuta prakāśa hita Sitā Rāma samudāya;
yaha ravisāra viveka lahi saṁśaya niśā nasāya. **264**.

The Sita-Rama devotees have many teachings
to bring one to illumination;
Viveksār, *this* sunlight of discernment,
ends the dark night of irresolution.[83] **264**.

In the community of devotees of Lord Rāma and his wife Sītā (of the epic *Rāmāyaṇa*) there are innumerable words and teachings which bring light about various aspects of life to a human being. Taking or imbibing this particular text, called *Viveksār* or the essence of discernment and wisdom, which is like concentrated sunlight, the entire darkness of doubts that assails every living being, can be dispelled convincingly. Thus, in this line, Baba Kinaram stresses the value of the book *Viveksār*.

It is interesting to see the use of the expression "*Sitā-Rām samudāya*" or "the community of Sītā-Rāma devotees" in this couplet because this is different from the way the word "Rāma" has been used in this text. Standing alone, by itself, the term Rāma has denoted the imperceptible God, the all-pervasive True Being, and has been treated as a synonym for it. But in its present reference, it is a recognition of the Vaishnava tradition of the incarnations of Lord Vishnu, one of which was as the prince Rāma of Ayodhya, the son of king Dasharatha, and husband of the princess Sītā of Mithilā, the daughter of king Janaka. It is especially curious because this text is regarded as that of the Aghor-Avadhūta sentiment where, generally (though not always) one expects to see Lord Shiva and the Goddess Shakti mentioned in praise. That Baba Kinaram praises the community of Vaishnava devotees seems another salute to his Vaishnava Guru Baba Shivaram.

83 The expression *saṁśaya niśā* in this verse appears to have a broader meaning than just the word 'doubt'. It seems to reflect the darkness of all kinds of uncertainties, hesitations and anxieties. So the author has chosen the word 'irresolution' to reflect the broad scope of this expression. It is also clear that Baba Kinaram is referring to *Viveksār* in this verse, but he calls it a *ravisāra viveka*. The *Ravi* is the Sun, *viveka* has many shades of meaning, where discernment is a good one, but *sāra* can be either an essence or summary, or with creative interpretation of the spread of the Sun's light, it could indicate *prasāra* or illumination as Sun's light decisively ends the night.

यह सिद्धांत सब पर कह्यौ लह्यौ लक्ष गुरु पाय ।
श्रवन करत भव फाँस तें मुक्ति होइ नर नाय ॥265॥

इस ग्रंथ में प्रतिपादित सिद्धांत सभी के कल्याण के लिये कहा गया है, क्योंकि मैंने स्वयं सतगुरु को प्राप्त कर इसके लक्ष्य को पा लिया है। जो नर-नारी इसको सुनेंगे, उनकी भव-सागर से मुक्ति हो जाएगी ॥ **265** ॥

बाबा कीनाराम स्पष्ट करते हैं कि इस ग्रंथ में प्रतिपादित सिद्धांत – सृष्टि उत्पत्ति का, उसकी देख-रेख का, योग का, भक्ति का – निर्देशन उन्होंने सभी के लिये किया है, किसी दल या समुदाय विशेष के लिये नहीं। ऐसा इसलिये क्योंकि ज्ञान मार्ग की यात्रा दुष्कर होती है, और बाबा कीनाराम ने गुरु का सान्निध्य पाकर उस परम लक्ष्य को हस्तगत कर लिया। अब यह उनकी करुणा का प्रसाद है कि जो भी स्त्री या पुरुष इसका श्रवण करेंगे, इसको दत्तचित्त होकर सुनेंगे, उनको निश्चित ही इस भवसागर रूपी जगत-जंजाल से मुक्ति पाने का मार्ग मिल जाएगा।

इस दोहे के अंत में बाबा कीनाराम ने जो 'नर नाय' शब्द युग्म का प्रयोग किया है उसका अभिप्राय हम संदर्भ के अनुसार 'नर-नारी' मान रहे हैं। किंतु नारी के लिये 'नाय' शब्द हिंदी शब्दकोशों में नहीं मिलता, और न 'नर नाय' शब्द युग्म के रूप में। संस्कृत संदर्भों में 'नर-नार्यः' अवश्य दृष्टिगोचर होता है, किंतु हिंदी में बहुत खोजने पर हमें मात्र एक उदाहरण मिला जो सन् 1829 में काशीनरेश उदितनारायण के आग्रह पर पण्डित गोकुलनाथ प्रभृति द्वारा रचित महाभारत के शांतिपर्व के मोक्षबंध पर्व के हिंदी रूपांतर में है।[71] हिंदी शब्दसागर में 'नाय' के लिये दिये अर्थों में नीति, उपाय, युक्ति के अतिरिक्त 'नाव' और 'किश्ती' शब्द भी मिलते हैं। इनके आधार पर हम अंतिम पंक्ति के दो अन्य अर्थ भी लगा सकते हैं, 1. "इसको श्रवण करने की युक्ति से सभी की भव-बंधन से मुक्ति होती है"। 2. "इसको श्रवण करने से यह किसी नाव की तरह भव-सागर से पार कराकर मुक्ति प्रदान करता है।" किंतु हमें 'नर-नारी' की व्याख्या फिर भी उचित लगती है क्योंकि न केवल बाबा कीनाराम के भक्तों में नारियाँ भी थीं, और जनश्रुति के अनुसार उनको बनारस में वेश्याओं का भला करने वाले इष्ट-संत के रूप में भी सराहा जाता है, बल्कि इसलिये भी क्योंकि भाषाविदों की राय है कि उत्तर प्रदेश-बिहार के इस क्षेत्र में अक्सर बोलचाल में 'र' का 'य' उच्चारण हो जाता है। उदाहरण के लिये पैर शब्द के लिये पाँव के अतिरिक्त 'पाय' या 'पाँय' भी अक्सर सुना जाता है।

71 "निर्विकार जो ब्रह्म है राख्यो ताहि छपाय । सुर असुरन के सगुण है सत्वरज तम नर नाय ॥" (गोकुलनाथ 1891, 473)।

yaha siddhānta saba para kahyau lahyau lakṣa guru pāya;
śravana karata bhava phā̃nsa tẽ mukti hoi nara nāya. **265**.

I have described this principle for all,
finding my guru I reached the goal;
Listening to this frees all men and women
from the noose of the world. **265**.

Baba Kinaram says in this text he has elucidated the principle for everyone – of the creation, of the maintenance of this creation, Yoga, and devotion – that can be very useful knowledge for seekers in this world, as it was for him when he found his Guru and that led him to achieve the goal of getting to know the imperceptible. All those men and women who listen to this text (and internalize its teachings) are sure to become liberated from the snare of this world as soon as they hear it.

Given the context, we have interpreted the last two words of this verse, *nara nāya*, to imply men and women, but *nāya* as a word for women is not found in Hindi dictionaries either as a single word, or as a word pair. In Sanskrit texts we do find the pair *nara nāryaḥ*, but that is not the same as the Hindi *nāya*. After considerable search we found only one other example of this word pair being used for men and women this way, *nara nāya*, in a Hindi summarization of the *Mokṣabandha Parva* in the *Śāntiparva* of the *Mahābhārata*. This work was commissioned by the king of Kashi, Uditanarayan, and was published for the first time in the year 1829 of the common era.[84] In the *Hindi Śabdasāgar* though, of the several meanings that are listed for the word *nāya* such as: *nīti* (right or moral conduct, morality), *upāya* (means, recourse) and *yukti* (practice, means, stratagem), three words implying a boat – *nāva*, *naukā* and *kiśtī* – are also found. Taking these two different kinds of meanings into account, we could translate the last line of this verse in two different ways: 1. "with the practice of listening to this text, all achieve liberation"; and 2. "listening to this text acts as a boat which takes all across the ocean of creation to provide liberation". But we still feel that the inclusion of the words 'men and women' in the translation makes better sense not only because there were many women amongst the devotees of Baba Kinaram and he is still regarded as the patron saint of the prostitutes in the city of Banaras, but also because linguists agree that in this part of Uttar Pradesh and Bihar states of India, in colloquial speech the 'r' sound often becomes replaced by a 'y' sound. The words '*pāya*' or '*pā̃ya*' for '*pā̃va*' (foot) is an example of this switch in pronunciation.

84 Gokulnath (1891, 473) "*nirvikāra jo brahma hai rākhyo tāhi chapāya; sura asurana ke saguṇa hai satvaraj tama nara nāya*" (hold on to the *Brahman* who has no fault, the demigods have the *sattva* character, the men and women have all three, *sattva*, *rajas*, and *tamas*).

साधन सिद्ध कहा कहौं मन गहि इक अंश ।
बज्र काय हत काल मैं सौंपु तासु परसंग ॥266॥

और क्या कहें, इसका एक अंश भी ग्रहण कर लेने से यह साधना सिद्ध है। अंत समय ऐसा सिद्ध स्वेच्छा से अपने वज्र शरीर को उस परम सत्ता को समर्पित कर देता है ॥ **266** ॥

बाबा कीनाराम कहते हैं कि यह सिद्धांत, और इसकी साधना, स्वयं-सिद्ध हैं, इसका पालन करनेवाले को सदा सफलता देते ही हैं। यह साधना काया और उसके अंतिम लक्ष्य से सम्बंधित है। इसके विषय में और क्या कहा जाय, यदि इस साधना का एक अंश-मात्र भी हृदय और मस्तिष्क में भली-भाँति रखकर, इंद्रिय-निग्रह कर अनुशासनपूर्ण जीवन जिया जाय, तो यह शरीर को वज्र के समान बलशाली और समर्थ बना देती है, यहाँ तक कि मृत्यु पर विजय पाने तक में सक्षम कर देती है। वैसी अवस्था पाने के लिये साधक को केवल कुसंग से दूर रहने की आवश्यकता है। इस प्रसंग को मैं उसी वज्र-समान काया को, और उस परम सत्ता के सान्निध्य को, समर्पित करता हूँ।

कुछ साधुओं का मत है कि इस दोहे का अंतिम शब्द 'परसंग' प्रचलित शब्द 'प्रसंग' का अपभ्रंश न होकर वास्तव में परसंग ही है। इसका गूढ़ार्थ तंत्र विहित परम्पराओं में शिव की शक्ति के सान्निध्य को इंगित करता है, उसी तरह जैसे 'परकीया' शब्द किसी अन्य की स्त्री को इंगित करता है। चूँकि बाबा कीनाराम के जीवन में माता हिंगलाज का बहुत बड़ा स्थान रहा है, हम इस अंतिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार भी लगा सकते हैं – जीवन के अंत के क्षण में मैं इस सर्व-सबल काया को उस शक्ति के संग में समर्पित करता हूँ।

छंद शास्त्र की मात्रा गणना अनुसार 'मन गहि इक अंश' चरण दो मात्रा छोटा है। बाबा कीनाराम की छंद रचना में ऐसा प्राय: नहीं होता। यदि यह चरण 'मन में गहि इक अंश' होता तो यह कमी पूरी हो जाती। सम्भव है कि ऐसा ही रहा हो, लेकिन, पहली बार जब इसे छापा गया, तब यह शब्द छूट गया।

sādhana siddha kahā kahaũ mana gahi ik aṁśa;
bajra kāya hata kāla maĩ saũpu tāsu parasaṅga. **266**.

What more to say, it is a perfect practice,
if even a part is held close to heart;
At the fearsome time of death,
I entrust to it the connection (with God). **266**.

Baba Kinaram says: it is a principle and a practice that is self-activated, it is always successful. It relates to the body and its final goal in life. What more can I speak about it because it leads to spiritual success even if a part of it is held and nurtured in one's heart and mind. If one but controls one's senses, cultivates discipline in the body, that itself can lead to an adamantine body which can conquer even death. To achieve that state, one just has to avoid the company that can lead to a weakness of the body. This is my dedication to the cultivation of that strength in the body, and to the company of the divine.

Some monks are of the opinion that the last line of this verse, '*parasaṅga*', is not a colloquialization of the more commonly known word '*prasaṅga*'. It is supposed to be '*parasaṅga*' because in traditions that follow tantra, this can indicate Shiva's feminine aspect, the Shakti, in the same way that the common word '*parkīyā*' refers to someone else's 'woman' or wife. Since the Goddess Hinglaj has had a major role to play in Baba Kinaram's life, we can interpret this last line also as: "at the last moment of my life I entrust this adamantine body to the company of that Shakti".

From the point of view of meter in *chanda śāstra*, the phrase '*mana gahi ik aṁśa*' is two *mātrā* count short. This is unusual in the careful prosody of Baba Kinaram. Had it been '*mana mẽ gahi ik aṁśa*', it would have been perfect. Perhaps it was so in the manuscript, but the *mẽ* might have been inadvertently left out the first time it was published in a modern press.

षोडशहू पुरान लै अरु स्मृति वेदांत ।
चहुं श्रुति शास्त्र अनेक को सार गह्यौ यह सात ॥267॥

सोलहों पुराणों, और समस्त शास्त्रों के सार को लेकर सात सार वचनों को ग्रहण किया ॥ **267** ॥

बाबा कीनाराम का कथन है कि इस ग्रंथ में उन्होंने सात मुख्य सार-तत्त्वों को प्रतिपादित किया है जो उन्होंने सोलहों पुराणों को देखकर, स्मृति शास्त्रों, वेदांत और उपनिषदों को देखकर, चारों वेदों का पारण करने के बाद और अन्य अनेक शास्त्रों की सहायता लेकर पाया है।

ṣoḍaśahū purāna lai aru smṛti Vedānta;
cahu śruti śāstra aneka ko sāra gahyau yaha sāta. **267**.

Taking all the sixteen *Puraṇas*,
the *Vedānta and the Upaniṣad*;
Four *Veda*s, many scriptures –
these seven truths I have discovered. **267**.

Taking together all the sixteen *Puraṇas*, the '*smriti*' scriptures, the *Vedānta* texts, the four '*shruti*' scriptures (the *Veda*s), and many other sacred texts, I have extracted their essence. Upon such extraction I have come up with seven points of wisdom that are verily their true essence.

इंद्रिय जित गत वासना प्रेम प्रीति परकाश ।
तेहि प्रिय सार विवेक यह नित नव नेह हुलास ॥268॥

जो इंद्रियों पर वश कर चुके हैं, वासना से विरत हो चुके हैं, जिनमें औरों के प्रति प्रेम स्वत: उमड़ने लगा है, जिनके जीवन में प्रकाश है, उनको यह विवेक का सार भाता है, उनके जीवन में प्रतिदिन नया स्नेह, नया उल्लास उत्पन्न होता रहता है ॥ **268** ॥

जीवन के परम लक्ष्य को पाने के लिये श्रम करना पड़ता है। औरों पर नहीं, अपने ऊपर विजय पानी होती है। इसके लिये साधक को अपनी इंद्रियों को जीत लेना होता है। यदि वे ऐसा कर लेते हैं तो उन इंद्रियों के विषय, वे सभी वासनाएँ और लोलुपता स्वयं तिरोहित होने लगती हैं, और अब साधक के लिये उस निर्मल प्रेम, आदर, और प्रकाश में जीने का रास्ता खुल जाता है जिसे उन दुर्बलताओं ने पहले आच्छादित कर रखा था। अब वे उस प्रकाश का आलोक औरों तक भी पहुँचा सकते हैं। ऐसे व्यक्ति को यह विवेकसार अत्यंत प्रिय होगा क्योंकि एक बार वे इसके सत्त्व को समझ कर हृदयंगम कर लें तो फिर उनके जीवन में नित्य नवीन आह्लाद उत्पन्न हो जाता है, उनमें चराचर में बस रहे सभी जीवों के लिये अनंत प्रेम उमड़ पड़ता है। इसके पहले वाले दोहे में बाबा कीनाराम ने जिन सात सार की बातों के विषय में कहा था, प्रतीत होता है कि ये सात परि-कल्पनाएँ – इंद्रिय जित, वासना विमुख, प्रेम, प्रीति, प्रकाश, प्रतिदिन नया नेह, और जीवन में आह्लाद – वे ही सात सार की बातें हैं।

indriya jita gata vāsanā prema prīti parakāśa;
tehi priya sāra viveka yaha nita nava neha hulāsa. **268**.

To those past passions with sense control,
With love, respect and light from them;
ever full of affection and delight,
This book on the essence of discernment is dear. **268**.

To reach the ultimate goal of life a person has to conquer their senses, bringing them under absolute control. Once they can do this, their lusts and passions begin to depart from them, leaving the space open for love and respect and light which they can share with all. To such a person this *Viveksār*, this essence of wisdom is very dear because, once they understand the essence of all the scriptures contained herein, it brings ever new delight to their life, and ever new affection for all beings that exist. In the previous verse Baba Kinaram had mentioned the seven points of wisdom as the essence of the scriptures. These seven concepts – subjugation of the senses, freedom from passions, love, affection, light of knowledge, constant affection for others and joy in life – appear to be those seven concepts.

जीव बास संवाद यह गुरु शिष को उपदेश ।
कहत सुनत समुझत मिटै संशय सकल कलेश ॥269॥

जीव के जीवन से सम्बंधित यह गुरु का शिष्य को उपदेश है। इसको सुनने से, सुनाने से, समझने से, सभी संशय और क्लेश नष्ट हो जाते हैं ॥ **269** ॥

विवेक का यह सार प्राणियों के कल्याण के लिये गुरु और शिष्य के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह जीवन, और उसके लक्ष्य का उद्घाटन करता है। यदि कोई इस ग्रंथ को भली-भाँति समझ लेता है, समझकर औरों के साथ उसकी चर्चा करता है, उनको पाठ कर के सुनाता है, तो पाठ करने वाले और सुनने वाले, सभी के संशय, क्लेशों, और दु:खों का निवारण हो जाता है।

jīva bāsa samvāda yaha guru śiṣa ko upadeśa;
kahata sunata samujhata miṭai saṁśaya sakala kaleśa. **269***.*

This dialogue on the life of the sentient being,
Is a spiritual instruction of the guru to the disciple;
It wipes away all doubts and suffering,
As one discusses and understands its principle. **269**.

This essence of wisdom has been presented upon the life and its goal for the living being, in the manner of a dialogue between the guru and the disciple. If a person understands it well, and then narrates it to others, and holds discussions with them about it, it has the potential to eradicate all doubts and anguish that exist in life because of the nature of the created world.

यह संसार असार अति पाँच भूत की वारि ।
तातें यह अवधूत मत विरच्यों स्वमति विचारि ॥270॥

यह पाँच तत्त्वों से बना संसार सत्त्व विहीन है, कारागार सरीखे है। इसी से निदान के लिये इस अवधूत मत के ग्रंथ की रचना हमने अपनी सुबुद्धि की प्रेरणा से की है ॥ **270** ॥

यह संसार कितना विशाल है! लेकिन इसमें है क्या? क्या इसमें कुछ भी ऐसा है जो शाश्वत हो, जो पाने योग्य हो? किसी योगी या संत के लिये यह संसार ऐसा ही असार – सारहीन – दिखता है। यहाँ कुछ पाने का प्रयास भी व्यर्थ प्रवंचना को ही जन्म देता है। यह तो केवल पंचमहाभूतों और त्रिगुणों के अनंत मेल-जोल की प्रक्रिया का परिणाम है। इसलिये, जिज्ञासुओं के कल्याण के लिये, बाबा कीनाराम कहते हैं, उन्होंने बहुत सोच-विचारकर इस अवधूत मत के मुख्य सिद्धांत को इस रूप में लिपिबद्ध किया है। यहाँ प्रयुक्त 'वारि शब्द रोचक है। संस्कृत में इसके कई अर्थों में हाथी को बाँधने या पकड़ने का स्थान, हाथी को बाँधने की रस्सी, बंदी इत्यादि शब्द मिलते हैं (देखें मोनियर-विलियम्स 1899, 944)। इन सभी अभिव्यक्तियों में परतंत्र, परवश, कारागार में पड़े हुए की स्थिति की ही भावना उत्पन्न होती है। अतएव बाबा कीनाराम का इंगित इस संसार को पाँच तत्त्वों से बना बंदीगृह समझना ही है।

बाबा कीनाराम का इस ग्रंथ को 'अवधूत' मत का कहना महत्वपूर्ण है। यहाँ हमें यह स्पष्ट दिखता है क्यों इस ग्रंथ को अघोर-अवधूत मत का माना जाता है। बाबा कीनाराम को सदेह-विदेह कहा जाता है। अवधूत शब्द भी ऐसी ही प्रकृति का द्योतक है – एक ऐसा व्यक्ति जो संसार से पूर्णतया विरक्त हो, पूरी तरह से अपनी इंद्रियों का स्वामी हो, संसार से किसी भी प्रकार की कोई आशा न रखता हो, सच्चे अर्थ में एक 'मुक्त' व्यक्ति हो। यह शब्द, और इसी का रूपांतर 'अवधू', इसी अर्थ में बौद्ध-सिद्धों के चर्यापदों में, गोरखनाथ की बानियों में, और संत कबीर की संकलित कविताओं में भी मिलता है।

yaha saṁsāra asāra ati pāñca bhūta kī vāri;
tātẽ yaha avadhūta mata viracyõ svamati vicāri. **270.**

This world is totally vain,
Born of the five elements of creation;
So I composed this Avadhuta way,
With my own reflection. **270**.

This world is absolutely hollow, without anything worthwhile that one can gain from it. Any attempt to get something out of it that will be beneficial, is but an exercise in vanity and futility. It is just a creation of the various permutations and combinations of the five major elements of creation. That is why I have thought well and let my deep reflection bring forth the tenets of this Avadhūta principle. Baba Kinaram uses the word '*vāri*' to indicate the nature of this creation in this verse. It is an interesting word. Amongst in various meanings are also listed, a place to catch elephants, a rope to tie elephants, a prisoner (see Monier-Williams 1899, 944). All these phrases evoke a feeling of being imprisoned. That seems to be Baba Kinaram's intention in using the word '*vāri*'.

It is interesting that Baba Kinaram mentions that this text is a text of the Avadhūta principle because here we have the clear reason why this text is regarded as an Aughar-Avadhūta text created by Baba Kinaram. The word Avadhūta signifies an ascetic who is completely detached from this world and in that sense, that person is a totally liberated person. This word, or its variation as *Avadhū*, has been used in this similar sense in the writings of other saints like the *caryāpadas* of the Buddhist *siddhas*, couplets attributed to Gorakhnath, as well as the compiled writings of saint Kabir.

उर अकास चित रूप पर विशद भाँति रस एक ।
उदय अस्त ते तम नहीं समुझे सार विवेक ॥271॥

असीम निरभ्र गगन की भाँति हृदयाकाश और चित्त के असीम पटल पर सदा एक ही रस विद्यमान रहता है। विवेकसार के इन सिद्धांतों को हृदयंगम कर लेने से उनमें उगने और डूबने का अंधकार परिभासित नहीं होता ॥ **271** ॥

चित्त का जो सीमाहीन चित्रपट मन और हृदय में विद्यमान है, उसका एक ही रस, एक ही सत्त्व है, जो सदा-सर्वदा मेघ-विहीन निरभ्र आकाश की नीलिमा सरीखे एक छोर से दूसरे छोर तक बस स्वच्छ, नीला ही नीला बना रहता है। चाहे पूर्व से पश्चिम देखें, या उत्तर से दक्षिण देखें, उसकी त्रुटिहीन नीलिमा की एक-रसता में किसी प्रकार का अंतर नहीं होता। उसी प्रकार, एक बार जब इस ग्रंथ में बताए सिद्धांत को समझ लिया जाय तो शुभ्र चित्त के निर्मल आकाश में भी किसी प्रकार के अंधकार या भय, हानि या लाभ, मान या अपमान, सुभाव या कुभाव के काले बादलों का आगमन तक नहीं होता।

ura akāsa cita rūpa para viśada bhā̃ti rasa eka;
udaya asta te tama nahī̃ samujhe sāra viveka. **271***.*

In the open sky form of the mind and the heart,
There is only one taste that constantly prevails;
There's no dark worry of the rise and the fall,
If one understands this essence of discernment. **271**.

On the unlimited canvas of consciousness in the mind and the heart, there is only one essence, one taste, that is constant just like the clearness of the blue sky on a day without clouds. From the east to the west and from the north to the south, wherever one looks, it is the same blue. Once the essence expounded in this text is understood, there remains no fear, no darkness, of the rise and fall of fortunes, egos and emotions in this clear blue sky of the consciousness.

स्वाती जल सतगुरु वचन थल विशेष गुन होइ ।
रामकिना गजकुंभ मनि नाग सीस विष होइ ॥272॥

जिस प्रकार स्वाति की बूँद चातक की पिपासा शांत करती है, उसी प्रकार सतगुरु के वचन होते हैं, विशेष स्थानों पर उनका विशिष्ट प्रभाव होता है। जैसे स्वाति की बूँद गज-मस्तक पर गिरे तो मणि, और नाग-फण पर गिरे तो विष में परिवर्तित हो जाती है ॥ **272** ॥

सतगुरु के द्वारा प्रणीत ज्ञान, उनके द्वारा प्रतिपादित हर शब्द, विशेष गुण रखता है, फलित होता है। वे स्वाति नक्षत्र में हुई वर्षा के बूँदों सरीखे होते हैं। कहते हैं कि स्वाति नक्षत्र में हुई वर्षा की बूँद यदि किसी हाथी के मस्तक पर गिरे तो वह 'गजकुम्भ' मणि बन जाती है। गजकुम्भ, यानी हाथी के मस्तक का ऊपरी हिस्सा। इस प्रकाशमय मणि में औरों को भी रास्ता दिखाने की क्षमता होती है। उसी प्रकार, यदि स्वाति नक्षत्र में हुई वर्षा की बूँद किसी नाग के फन पर गिरे, तो वह विष में बदल जाती है। यह विष बहुत ही घातक होता है। जिस जीव के भी प्रति उसका प्रयोग किया जाय, वह संहारक सिद्ध होता है।

बाबा कीनाराम के दोहे की इस अंतिम पंक्ति का आशय यही है कि सतगुरु द्वारा प्रतिपादित ज्ञान असीम क्षमता रखता है। जब कोई व्यक्ति इस ज्ञान को अर्जित कर लेता है तो अपना, और अन्य लोगों का भी बहुत कल्याण कर सकता है। उसके विपरीत, यदि वे उस ज्ञान का सदुपयोग न करके दुरुपयोग करते हैं, तो वह बहुतों के लिये घातक भी सिद्ध हो सकता है।

svātī jala satguru vacana thala viśeṣa guna hoi;
Rāmakinā gajakumbha mani nāga sīsa viṣa hoi. **272**.

The True Guru's words are like the rains of the Arcturus,
With specific transformations in different places;
They Turn into gems falling on an elephant's head,
poison on the hood of a cobra, says Kinaram. **272**.

Of course, every drop of this essence of wisdom as narrated by the enlightened Guru, has a special characteristic. It is like the raindrops that fall to the earth under the Arcturus asterism. Under the Arcturus asterism when such a raindrop falls on the head of an elephant it turns into a diamond called '*gajakumbha*', which refers to the lobe on the upper part of an elephant's head. This bright diamond has the capacity to show light to others. The same raindrop, when it falls on the hood of a cobra, turns into poison. This poison is extremely potent, it can destroy any living being that it is directed at.

The implication of this last line in Baba Kinaram's verse is that this knowledge is a powerful tool. Once a person has gained this knowledge, they have the potential to benefit themselves as well as bring light to others. But if they do not use it well, it also has the power to be extremely destructive.

अष्ट अंग एहि महँ कह्यौ समुझि लेहु मतिवान ।
प्रान प्रतिष्ठा नाम लखि रामकिना तत्त्व ज्ञान ॥273॥

इस ग्रंथ में हमने योग के अष्ट अंगों का प्रतिपादन किया है, हे बुद्धिमान व्यक्ति, इसे तुम समझ लो। काया में उस नाम (मंत्र) को स्थापित कर देने से, कीनाराम कहते हैं, तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥ **273** ॥

बाबा कीनाराम कहते हैं कि इस ग्रंथ में उन्होंने योग के आठ अंगों का प्रतिपादन किया है, जो व्यक्ति चतुर होगा, विवेक से काम लेगा, वह इनको समझ लेगा। कीनाराम कहते हैं कि उन्होंने अपने शरीर में उस परम सत्ता के नाम, या उस मंत्र की प्राण-प्रतिष्ठा कर के उसे जागृत कर लिया, और इस प्रकार उन्होंने विवेक के सार, या परम तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त कर लिया। योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि कहे जाते हैं। इन आठ अंगों की व्याख्या कई ग्रंथों में है। यहाँ संक्षेप में उनकी विवेचना इस प्रकार कर सकते हैं –

यम – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।
नियम – पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।
आसन – ये अनेकों प्रकार के हैं। उनमें से आत्मसंयम चाहनेवाले व्यक्ति के लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन उपयोगी माने गए हैं।
प्राणायाम – आसन सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति के अवरोध हो जाने की स्थिति।
प्रत्याहार – अपने-अपने विषयों के संग से रहित होने पर, इंद्रियों का चित्त के रूप में अवस्थित हो जाना।
धारणा – चित्त को किसी एक देशविशेष में स्थिर कर लेना।
ध्यान – चित्तवृत्ति का अविच्छिन्न रूप से ध्येय वस्तु में ही निरंतर लगा रहना।
समाधि – वह 'ध्यान' ही समाधि हो जाता है जिस समय केवल ध्येय-स्वरूप का ही भान होता है और अपने स्वरूप के भान का अभाव रहता है। (योग के इन अंगों का विस्तार से विवरण पाने के लिये देखें गोयंदका 1935, 43-8)।

aṣṭa aṅga ehi mahã kahyau samujhi lehu mativāna;
prāna pratiṣṭhā nāma lakhi Rāmakinā tattva gyāna. **273**.

I have related the eight limbs here,
O wise person understand this;
Chant on the mantra in which life is infused,
Kinaram achieved spiritual knowledge in this way. **273**.

In this text I have related the eight limbs of Yoga in brief, O wise and astute person, it is up to you to figure out its essence. Kinaram infused his body with the one name of God, thus enlivening the body, and in this way, he realized the essence of wisdom.

The eight limbs of Yoga pertain to *yama* (the restraints), *niyama* (the discipline), *āsana* (the posture), *prāṇāyāma* (breath control), *pratyāhāra* (sense withdrawal), *dhāraṇā* (concentration), *dhyāna* (meditation), and *samādhi* (enlightenment). These eight limbs have been described in many texts in detail. Here we just provide a brief outline:

Yama – Non-violence, truth, respecting the rights of others, control of erotic desire, and non-accumulation of consumable goods.
Niyama – Maintaining purity of mind and body, contentment, unrelenting practice, reading of sacred texts, and complete devotion to the divine.
Āsan – These are of many kinds and refer to the posture one undertakes for long periods of meditation. For those who wish to cultivate self-control, *siddhāsan*, *padmāsan* and *svastikāsan* are recommended.
Prāṇāyāma – When the seating posture is no longer difficult and the in and out breath experiences a certain cessation, that is *prāṇāyāma*.
Pratyāhāra – The stable state of the senses without hankering after their material objects.
Dhāraṇā – Keeping the mind one-focused.
Dhyāna – The concentration of the mind on the vibration meditated upon.
Samādhi – When the mind is so concentrated that it feels only the presence of the object or vibration meditated upon, and has no sense of its own body, that state is *samādhi*. (For a detailed explanation of these eight limbs see Goyandaka 1935, 43-8).

सत अष्टादस वर्ष महँ दस दुइ उभय मिलाय ।
विवेक सार विरच्यों तवै समुझी बुध जन राय ॥274॥

वर्ष 1800 में दस और दो जोड़ दें। तब विद्वत्जन पकड़ लेंगे कब हमने विवेकसार को रचा ॥ **274** ॥

इस दोहे में पहले शब्द 'सत' से बाबा कीनाराम संस्कृत का शत यानी 100 शब्द कहना चाह रहे हैं। वे कहते हैं कि संवत 1800 में दस और दो की संख्या जोड़ दें। तब (तवै) बुद्धिमान लोग या विद्वत्जन (बुध जन राय) यह समझ लेंगे कि वह वर्ष कौन सा था जब मैंने विवेकसार की रचना की। बाबा कीनाराम के इस संकेत पर चलने से हमें संवत 1812 की संख्या का ज्ञान हो जाता है। चूँकि यह विक्रम संवत 1812 का वर्ष है, जो पश्चिमी ग्रेग्रोरियन कैलेंडर से प्रायः 57 वर्ष आगे है, 1812 में से 57 घटाने पर हमें सन् 1755 मिल जाता है, जो ग्रेग्रोरियन कैलेंडर से विवेकसार की रचना का वर्ष है।

sata aṣṭādasa varṣa mahã dasa dui ubhaya milāya;
Viveksāra viracyõ tavai samujhī budha jana rāya. **274**.

In the year eighteen hundred
Add both ten and two;
It was then that I composed the *Viveksār*,
Understand, O wise people. **274**.

If we take the number eighteen, and then add the numbers ten as well as two to it, O astute people who pursue this text, that is when I composed this text called the *Viveksār*. Here Baba Kinaram gives us the year when he composed this text, *samvat* 1812. Very likely, it is the *Vikram samvat*, which is approximately 57 years ahead of the Gregorian calendar. So, subtracting 57 from 1812 gives us the year 1755 of the common era.

नग्र उजेन अवंतिका विष्णु चरण थल जानि ।[72]
सफराक्षत अंग सर तेहि तट कह्यौ बखानि ॥ 275॥

वह स्थान उज्जैन नगर था, जो पहले अवंतिका के नाम से जाना जाता था, और जो भगवान् विष्णु के चरण-थल के रूप में प्रसिद्ध है। वहाँ क्षिप्रा के तट पर मैंने इसका बखान किया ॥ **275** ॥

विवेकसार की रचना का वर्ष बता देने के बाद बाबा कीनाराम हमें यह भी बता देते हैं कि उन्होंने कहाँ पर इसकी रचना की। वे कहते हैं कि उस नगर का नाम उज्जैन-अवंतिका था, जो भगवान विष्णु के चरण-थल के रूप में प्रतिष्ठित है। स्कंदपुराण के आवंत्यखण्ड-अवंतीक्षेत्र माहात्म्य खण्ड में भगवान विष्णु के चरणों से चिह्नित अंकपाद नामक स्थान का उल्लेख है। उज्जैन शहर तो आज भी विख्यात है और उसे बाबा महाकाल की नगरी के रूप में भी जाना जाता है। उज्जैन में ही विष्णु-चतुष्टिका नाम का प्राचीन मंदिर भी है जहाँ पद्मासन में बैठे श्रीविष्णु के दर्शन वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न के रूप में होते हैं (India Info 2016)। वहीं पर क्षिप्रा नदी बहती है, जिसके तट पर उन्होंने उसको रचा। क्षिप्रा नदी तो आज भी विद्यमान है और पुराणों में उसका विषद् वर्णन एक पावन नदी के रूप में मिलता है।

इस दोहे की दूसरी पंक्ति का पहला शब्द 'सफराक्षत' अस्पष्ट रह जाता है। पंडितों का मानना है कि यह क्षिप्रा नदी का द्योतक है, किंतु किसी शब्दकोश में यह शब्द नहीं मिलता। इस कारण 'सफराक्षत अंग सर' वाक्यांश के बारे में कुछ और शब्द आवश्यक हैं। संस्कृत शब्दकोशों में 'सफर' खोजने से 'शफर' शब्द का निर्देश मिलता है, और 'शफर' का अर्थ एक प्रकार की मछली दिया जाता है। यदि 'सफराक्षत' शब्द का संधि-विच्छेद कर दें तो 'अक्षत' शब्द हो सकता है, जिसके अर्थ, व्रणशून्य (घाव से रहित), शिव, धान का लावा, बिना टूटा हुआ चावल इत्यादि दिये जाते हैं। शफर या सफर शब्द के साथ अक्षत शब्द के 'घाव रहित' अर्थ को लें तो यह अर्थ बन सकता है – ऐसा स्थान जहाँ मछलियों को चोट नहीं पहुँचती। 'सर' शब्द के कई अर्थ संस्कृत शब्दकोशों में मिल जाते हैं, लेकिन पानी से सम्बंधित शब्दों में जलप्रपात, झील, सरोवर आदि प्रमुख हैं। 'अंग' शब्द के भी कई अर्थ हैं, किंतु युक्ति लगा कर यदि हम इसे सरोवर का अंग या तट कहें तो 'सफराक्षत अंग सर' का एक प्रकार से अर्थ निकलता है 'उस सरोवर के तट पर जहाँ मछलियों को हानि नहीं पहुँचती'। लेकिन यह अर्थ 'क्षिप्रा' नदी के नाम से बहुत भिन्न है, और परम्परा के अनुसार बाबा कीनाराम ने विवेकसार की रचना क्षिप्रा नदी के तट पर की।

72 सन् 1965 में छपे संस्करण में अवंतिका के स्थान पर भवंतिका छपा हुआ है। लेखक के विचार से यह एक त्रुटि है। उज्जैन का प्राचीन नाम अवंतिका ही सर्वमान्य है।

nagra ujena avantikā Viṣṇu caraṇa thala jāni;[85]
sapharākṣata aṅga sara tehi taṭa kahyau bakhāni. **275**.

In the town of Ujjain-Avantika,
Known as the land of Vishnu's feet;
There on the bank of the river Kṣiprā,
is where I expounded it in detail. **275**.

Having told us the year when he composed the *Viveksār*, Baba Kinaram then tells us where he composed it. It was in the Avantika region of central India, in the city called Ujjain, which is also referred to as the place of Lord Vishnu's sacred feet. A place by the name of *Aṅkapāda* marked by the two feet of Viṣṇu is mentioned in the *Avantyakhaṇḍa-Avantikṣetra Māhātmya khaṇḍa* of the *Skandapurāṇa*. The city of Ujjain is well known even today as the city of Lord Śiva in the form of Mahākāl. In Ujjain also exists the ancient *Viṣṇu-catusṭikā* temple where, seated in the lotus posture, Viṣṇu can be seen in the form of *Vāsudeva*, *Saṁkarṣaṇa*, *Aniruddha* and *Pradyumna*. The river Kshipra, well described in the ancient texts like the *Purāṇas*, is a sacred river. It was on its bank in this city that, says Baba Kinaram, he related this text in detail.

The first word of the second line of this verse, '*sapharākṣat*', remains unclear. Pandits insist that it refers to the river *Kṣiprā*, but we have not been able to find the word in any dictionary, or any sacred or secular text. Therefore, the phrase '*sapharākṣata aṅga sara*' merits further investigation. In Sanskrit dictionaries the word '*saphar*' gets directed to the word '*śaphar*' (see Monier-Williams 1899, 1052.1), the meaning of *śaphar* can be understood as a certain kind of fish. Separating the two words in the compound word *śapharākṣata* gives us the word *akṣata* which has several meanings that included: uninjured, Shiva, unbroken rice, a certain kind of barley. Since we have fish as the first part of this compound, it could imply a place where fish remain uninjured. The word '*sar*' has many meanings, but since we have discovered fish to be a meaning of the word *saphar*, the meanings of '*sar*' related to water are: waterfall, rapids, lake, pool. So the phrase *sapharākṣata aṅga sara* could imply the bank of a lake where fish are not harmed, but such an extended interpretation is far from the meaning that the tradition holds, the river *Kṣiprā*. Since the tradition believes Baba Kinaram composed the *Viveksār* on the bank of the river *Kṣiprā*, that is how we have given it in the translation.

85 In the 1965 edition of the *Viveksār* instead of Avantika, the name is spelled as Bhavantika. In the writer's opinion this is an error in printing. The ancient name of Ujjain is well known as Avantika.

महि सुत बासर लग्न तिथि अभिजित मंगल मूल ।
आत्म प्रकाश रामजस लहे हरन त्रैशूल ॥ 276॥

उस दिन मंगलवार था, मंगलकारी अभिजित नक्षत्र आकाश में उदित था। राम नाम के यश सरीखे यह कृति आत्मप्रकाश के लिये रचित है, जग के तीन शूलों से यह त्राण देने वाली है ॥ **276** ॥

अब बाबा कीनाराम यह भी बताते हैं कि उस दिन कौन सा दिन या तिथि थी। वे दिन के लिए "महि सुत बासर" कहते हैं। यह मंगल ग्रह का द्योतक है, क्योंकि मंगल ग्रह को पृथ्वी-पुत्र माना जाता है। यानी कि उस दिन मंगलवार था। इस रचना के पूर्ण होने का शुभ काल तब आया जब अभिजित नक्षत्र, जो विजय का देने वाला है, आकाश में ऊँचाई पर था। यह एक ऐसा ग्रंथ है जो राम की कृपा से, जो उन सत्यपुरुष का नाम है, आत्म-प्रकाश को देनेवाला है। इसके पारण से जीवन में जो तीन प्रकार की बाधाएँ उद्वेलित करती हैं, वे तिरोहित हो जाती हैं।

यहाँ 'त्रैशूल' शब्द से बाबा कीनाराम का क्या अभिप्राय है, इसको समझने का प्रयास करते हैं। चूँकि उन्होंने सृष्टि-रचना में तीन गुणों, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का नामांकन किया है, जो पंचमहाभूतों के साथ मिलकर इस संसार को गतिमान् रखते हैं, हम कह सकते हैं कि ये ही तीन गुण और इनसे उत्पादित व्यवहार, 'त्रैशूल' हैं। लेकिन 'त्रिगुण' को 'त्रैशूल' कहना उचित नहीं जान पड़ता। हमारे विचार से 'त्रैशूल' से बाबा कीनाराम का तात्पर्य मनुष्यों को तीन प्रकार के तापों से व्यथित करनेवाली आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक पीड़ाएँ हैं। आध्यात्मिक दु:ख में रोग, व्याधि, जैसे शारीरिक कष्ट और क्रोध, लोभ जैसे मानसिक कष्ट गिने जाते हैं। जो बाधाएँ देवताओं द्वारा प्रेरित होती हैं, या आम मनुष्यों की क्षमताओं से परे की शक्तियों द्वारा प्रतिपादित होती हैं, जैसे यक्ष लगना, या भूत-प्रेत आदि की बाधा, उनको आधिदैविक कहते हैं। आधिभौतिक कष्ट वह होता है जो पशु, पक्षी, सर्प इत्यादि के द्वारा पहुँचता है। ये सभी शोक या शूल विवेकसार को समझ लेने से तिरोहित हो जाते हैं।

mahi suta bāsara lagna tithi abhijita mangala mūla;
ātma prakāśa Rāmjasa lahe harana traiśūla. **276**.

It was the day of the child of the earth,
Tuesday auspicious under the Abhijit constellation;
the light of the Self, illumined by the grace of Ram
once obtained, removes the three afflictions. **276**.

Baba Kinaram now fills in the details about the date and time of *Viveksār*'s composition. It was on the day of the child of the earth (this description – *mahi sut bāsar* – refers to the planet Mars, known as *Mangal* in Hindi, and regarded as a child of Earth), that is to say, a Tuesday. The composition of the text was completed at the auspicious moment when the asterism *Abhijit* (the Sanskrit name of Vega), which is known to grant victory, was up in the sky. It resulted in a text that, by the grace of Ram, the imperceptible True Being, has the ability to remove all the three afflictions of worldly life.

Let us take a moment to understand what Baba Kinaram could mean by the 'three afflictions'. Since he has nominated the three *guṇas*, *satoguṇa* (purity or goodness), *rajaoguṇa* (passion) and *tamoguṇa* (inertness or darkness) as the three essential qualities that combine with the five elements of creation, we could think of these three as the cause of all afflictions. But the *guṇas* are not afflictions by themselves. In our opinion, Baba Kinaram intends to point out the three kinds of sorrows that beset human beings, known as *ādhyātmik*, *ādhidaivik*, and *ādhibhautik*. The *ādhyātmik* sorrows are the ones that result from physical pain deriving from such things like injury and disease, as well as mental anguish arising from greed, lust, anger etc. The *ādhidaivik* sorrows arise from powers beyond the physical capacity of human beings, such as those inspired by the demigods, ghosts and other such beings. The *ādhibhautik* sorrows result from pain incurred by such beings as snakes, birds and animals. All these three kinds of afflictions go away once the message of *Viveksār* is understood.

साधु प्रसाद को फल यह अनुभव है आहि ।
कहै समुझि दृढ़ कै गहै राम मिलेंगे ताहि ॥277॥

यह कृति जो आपके समक्ष है, यह एक साधु का प्रसाद है, साधना का फल है। जो इसको समझकर औरों के लिये व्याख्या करता है, और स्वयं इसके सिद्धांतों का पालन भी करता है, उसको अवश्य ईश्वर का अनुभव होता है ॥ **277** ॥

यह ग्रंथ आत्मज्ञान के पथ पर चलने वाले एक साधु का प्रसाद है, उसके अनुभवों पर आधारित है। कोई साधक जो इसमें प्रतिपादित सिद्धांतों का अनुसरण करता है, उन्हें भली प्रकार समझ लेता है, उस शिक्षा को आत्मसात कर लेता है, और फिर संत जनों के संग में उसकी चर्चा करता है, उसे अन्य जनों को सुनाता है, उसे निश्चय ही राम के रूप में उस सत्यपुरुष का साक्षात्कार, उनका अनुभव, होता है।

sādhu prasāda ko phala yaha anubhava hai āhi;
kahai samujhi dṛṛha kai gahai Rāma milẽge tāhi. **277.**

The experience that is related here,
Is the grace of a monk's experience;
Relating it to others with firm belief,
Will definitely bring the grace of Ram. **277**.

This text is a gift, born of the grace of a saint's experience on the path of self-realization. A seeker who pursues the teachings described herein, imbibes them well, discusses its profound nature and principles in the company of saints, thus relating this knowledge to others, is sure to have an experience of Ram, as the imperceptible True Being and also as an incarnation of God.

राम नाम सब कोई कहै रामहिं लखै न कोय ।
रामकिना जौ राम हित रूठि करै का कोय ॥278॥

सभी लोग राम का नाम तो लेते हैं, लेकिन राम का अनुभव नहीं प्राप्त कर पाते हैं। कीनाराम कहते हैं कि यदि राम, यानी ईश्वर आपके अनुकूल हो गए, तो चाहे सारा जग ही रुष्ट हो जाय, उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता ॥ **278** ॥

इस ग्रंथ के अंतिम दोहे में बाबा कीनाराम कहते हैं कि हर किसी के मुख से राम का नाम तो सुना जा सकता है। किंतु शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होता है जो इस नाम को इस प्रकार आत्मसात कर लेता है कि राम के वे सभी गुण, उनका चरित्र, उस व्यक्ति के अंतरतम को भी आप्लावित कर दे। ऐसा होने पर उस साधक को जीवन में सब कुछ हस्तगत हो जाता है। जब ऐसी स्थिति हो जाती है तो उस व्यक्ति पर इस बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है कि यह संसार उससे प्रसन्न है या अप्रसन्न। अप्रसन्न हो तो भी संसार उस व्यक्ति का बाल भी बाँका नहीं कर सकता, क्योंकि जैसी कि लोकश्रुति है, “जाको राखे साइयाँ मार सके ना कोय; बाल न बाँका कर सके जो जग बैरी होय”।

Rāma nāma saba koi kahai Rāmahĩ lakhai na koya;
Rāmakinā jau Rām hita rūṭhi karai kā koya. **278**.

Everyone speaks the name of Ram,
But no one perceives Ram;
Kinaram says if Ram is pleased,
Displeasure of the world can do no harm. **278**.

Everyone talks about the name of Ram, but hardly anyone, ever, can realize the grace and wisdom that flows into a person when that name becomes a part of a seeker's very being. But once realized, that seeker achieves everything in the world. At that time, even if the world is not happy with that person, implying, if they criticize such a person or reproach them for misperceived reasons, it does not matter to them, for they are beyond the reach of the world to do any harm. It seems that Baba Kinaram has given expression here to an old adage which, in Hindi, says "*jāko rākhe sāiyā̃ māra sake nā koya, bāla na bā̃nkā kara sake jo jag bairī hoya*" (a person protected by god cannot be harmed by anyone, even if the whole world bands together, they cannot harm even a hair follicle on them). That, in summation, is the real-life assurance of fearlessness that Baba Kinaram had asked of his guru at the beginning of the text.